सिद्धयोग

संस्थापक : योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहनजी महाराज

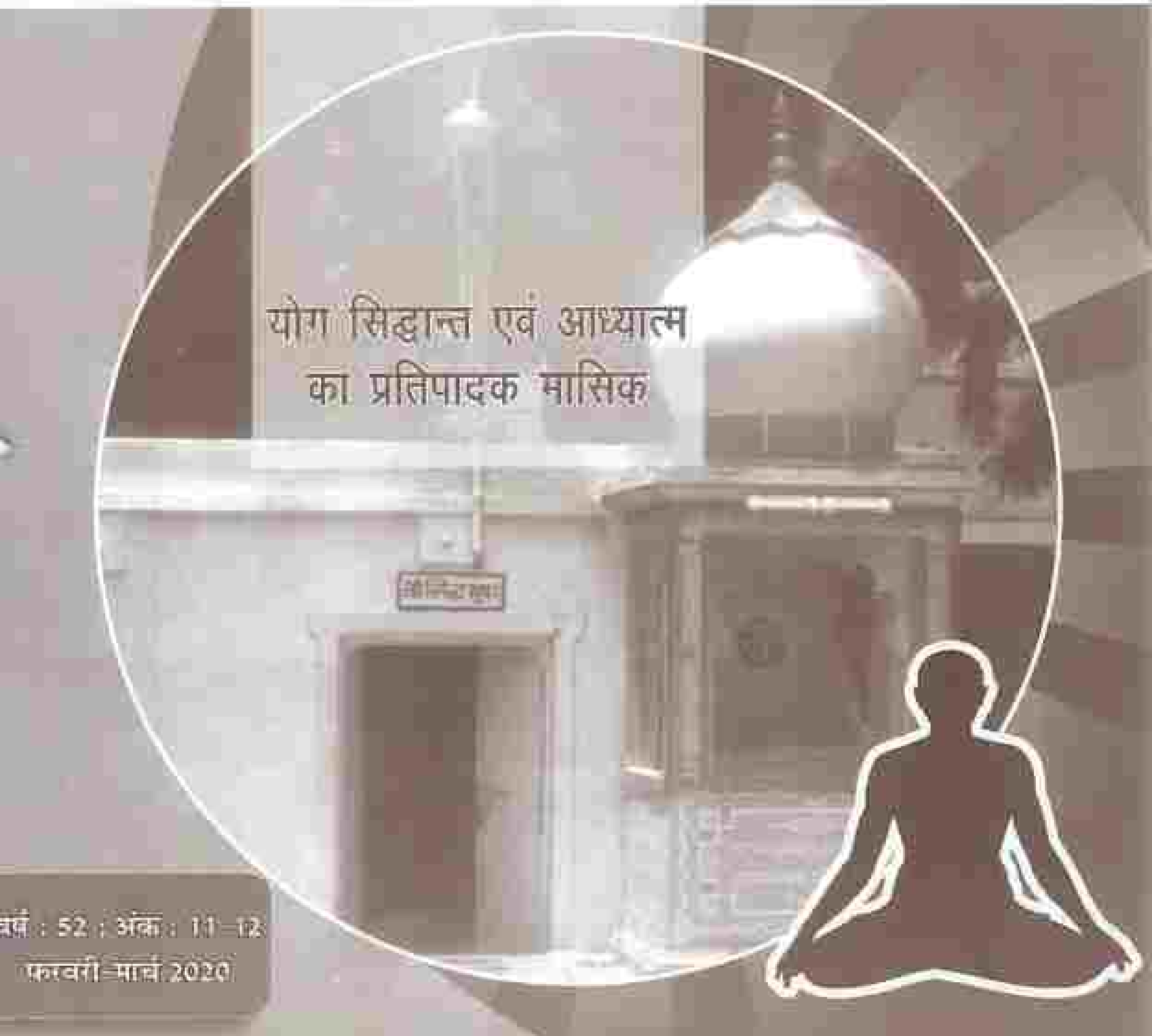

योग सिद्धान्त एवं आध्यात्म
का प्रतिपादक मासिक

वर्ष : 52 : अंक : 11-12
फरवरी-मार्च 2020

श्री सिद्धगुफा प्रकाशन सवाँई-283202 (आगरा) उ.प्र

प्रकाशन तिथि : 01.03.2020 मूल्य - एक प्रति : 20/-, द्विवार्षिक : 360/-

अमृतकण

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।

स सन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः।।

जो पुरुष कर्मफल का आश्रय न लेकर करने योग्य कर्म करता है वह सन्यासी तथा योगी है, और केवल अग्नि का त्याग करने वाला संन्यासी नहीं है तथा केवल क्रियाओं का त्याग करने वाला योगी नहीं है।

◆ ◆ ◆

यं सन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।

न ह्यसन्नयस्त संकल्पो योगी भवति कश्चन।।

हे अर्जुन ! जिसको सन्यास ऐसा कहते हैं उसी को तू योग जान। क्योंकि संकल्पों का त्याग न करने वाला कोई भी पुरुष नहीं होता।

◆ ◆ ◆

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।

योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते।।

योग में आरूढ़ होने की इच्छा वाले मननशील पुरुष के लिए योग की प्राप्ति में निष्काम भाव से कर्म करना ही हेतु कहा जाता है। और योगारूढ़ हो जाने पर उस योगारूढ़ पुरुष का जो सर्व संकल्पों का अभाव है वही कल्याण में हेतु कहा जाता है।

◆ ◆ ◆

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।

सर्वसंकल्पसन्यासी योगारूढस्तदोच्यते।।

जिस काल में न तो इन्द्रियों के भोगों में और न कर्मो में ही आसक्त होता है उस काल में सर्वसंकल्पों का त्यागी पुरुष योगारूढ़ कहा जाता है।

◆ ◆ ◆

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।।

अपने द्वारा अपना संसार समुद्र से उद्धार करे और अपने को अधोगति में न डाले क्योंकि यह मनुष्य आप ही तो अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है।

●●●

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक-पत्र

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्
मर्त्योमृत्योर्मुख विवरतो, मुक्तिमाप्नोति सद्यः।
तत्प्राप्यर्थान् बहुतर विशदान् योगशास्त्रोपदेशान्
कल्याणानाम् भवतु महतां सिद्धये सिद्धयोगः।।

अर्थ :—शुद्ध (निर्विकार) स्वभाव वाले परम ब्रह्म का ध्यान करते-करते मृत्यु के मुख में पड़ा हुआ मनुष्य शीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त हो जाता है। उस मुक्ति की प्राप्ति के उपाय स्वरूप योग ध्यान शास्त्र के सिद्धान्तों की विस्तृत व्याख्या करने वाली ''सिद्धयोग'' नामक पत्रिका सत्पुरुषों के परम कल्याण की सिद्धि (प्राप्ति) में सक्षम व सहायक हो।

वर्ष : 52 फरवरी-मार्च 2020 अंक : 11-12

श्री कृष्ण वृष्णिकुलपुष्कर जोष दायिन्
क्ष्मानिर्जरद्विजपशूदधिवृद्धिकारिन्।
उद्धर्मशार्वरहर क्षितिराक्षसध्रु-
गायकल्पमार्कमर्हन् भगवन नमस्ते।।

(श्रीमद्भागवत् 10/14/40)

अर्थात् - सबके मन-प्राण को अपनी रूप-माधुरी से आकर्षित करने वाले श्यामसुन्दर ! आप यदुवंशी रूपी कमल को विकसित करने वाले सूर्य हैं। प्रभो ! पृथ्वी, देवता, ब्राह्मण और पशुरूप समुद्र की अभिवृद्धि करने वाले चन्द्रमा भी आप ही हैं। आप पाखण्डियों के धर्मरूप, रात्रि को घोर अंधकार नष्ट करने के लिए सूर्य और चन्द्रमा दोनों के ही समान हैं। पृथ्वी पर रहने वाले राक्षसों को नष्ट करने वाले आप चन्द्रमा, सूर्य आदि समस्त देवताओं के भी परम पूजनीय हैं। भगवन् ! मैं अपने जीवन भर, महाकल्प पर्यन्त आपको नमस्कार ही करता रहूँ।

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र
सवांई (एत्मादपुर) आगरा

SIDDHYOG

HINDI MONTHLY

Propagating Yoga & Spiritual values

संस्थापक :

योग-योगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

सम्पादक :

आचार्य (डा.) दासलाल ब्रह्मचारी

संयुक्त सम्पादक

डॉ. विजय सिंह

प्रबन्ध सम्पादक :

समस्त योग प्रचार मण्डलों के अध्यक्ष एवं गुरु भाई-बहिन

अनुक्रमणिका

1.	विशेष लेख- योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज	3
2.	सम्पादकीय	7
3.	श्रीमद्भागवत् में योग-परिचर्चा- डॉ. विजय सिंह	10
4.	गुरुकृपाः एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण- श्री कपिलदेव उपाध्याय	13
5.	यौगिक प्रश्नोत्तरी- पूज्यपाद श्री गुरुदेव जी द्वारा	17
6.	गुरु आज्ञा पालक- श्री कृष्णकुमार पाण्डेय	22
7.	पत्रं-पुष्पं-फलं-तोयम्	25
8.	योग की सिद्धि- स्वामी नित्यनिरंजन देव	26
9.	योग-महामेला	30
10.	षड्रिपुओं पर नियन्त्रण कैसे करें ?- डॉ. जी.डी. बारचे	31
11.	सुखद भविष्य की तैयारी- भाईजी श्रीहनुमानप्रसाद जी	36

एक प्रति	: रु. 20.00
वार्षिक शुल्क	: रु. 180.00
द्विवार्षिक	: रु. 360.00
आजीवन (10 वर्षीय केवल)	: रु.1000.00

विशेष लेख—

योग में श्रद्धा का स्थान

योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

योग दर्शन में भगवान पतंजलिदेव ने योग में प्रगति पाने के लिए दो खास उपायों का निर्देशन किया है उनमें से एक उपाय भव प्रत्यय कहलाता है। भव प्रत्यय का अर्थ है कि योगी को अपना अभ्यास बढ़ाने के लिए किसी भी प्रकार के उपयोगी साधन सोपान क्रम की आवश्यकता नहीं रहती प्रत्युत उनका जन्म लेना ही उनकी साधना का एक आधार स्तम्भ हुआ करता है। ज्यों ही ऐसे व्यक्ति जन्म लेते हैं त्यों ही पौर्वदेही बुद्धिसंयोग को पाकर उनकी साधनाएँ चलने लगती हैं और वे लोग शनैः शनैः अभ्यास करते हुए आत्म–साक्षात्कारभूत अपने परम लक्ष्य को पा लिया करते हैं किन्तु इनके अतिरिक्त अन्य सभी योगाभ्यासियों के लिए उपाय प्रत्यय का वर्णन किया गया है। उपाय प्रत्यय का अर्थ है कि प्रयत्न विशेष के साथ समाधि स्थिति को प्राप्त करना। इनमें से भी श्रद्धावान का स्थान सर्वोच्च है। आनन्दकन्द अखिलात्मा भगवान कृष्ण का अपनी श्रीमद्‌भगवत् गीता में श्रद्धा की उत्पत्ति आधार सतोगुण का बतलाया है।

सत्वानुरूपा सर्वस्य
श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो
योयच्छ्रद्धः स एव सः।।

अर्थात् जिस व्यक्ति के मन में जितना अधिक सतोगुण का उदय हो जावेगा उतना ही अधिक उसके मन में श्रद्धा का भी उदय हो जाएगा। क्योंकि प्रख्या प्रवृत्ति स्थितिशील होने से चित्त को त्रिगुणात्मक माना है। चित्त के विभाग अलहदा अलहदा बटे रहते हैं। यदि प्रख्या रूप चित्त सत् रजोगुण तमोगुण से मिला रहता है तो उसकी प्रवृत्ति सांसारिक ऐश्वर्यों को प्राप्त करने में लगी रहती है और कदाचित यही प्रख्या रूप चितसत् तमोगुण का अवलम्ब लेता है तो अधर्म अज्ञान अवैराग्य और अनैश्वर्य में फँसा रहता है और ज्यों ही यह प्रख्या रूप चितसत् विशुद्ध चमकता हुआ होने पर यत्किंचित रजोगुण की मात्रा से अनुवित रहता है तो धर्म ज्ञान और वैराग्य एवं ऐश्वर्य आदि को चाहने वाला हुआ करता है और निरन्तर अभ्यास करते–करते जब रजोगुण की मात्रा भी यहाँ से समाप्त हो जाती है तब प्रकृति और पुरुष

के भेद ज्ञान को समझकर धर्म ग्रंथ समाधि को धारण करने वाला होता है। क्योंकि चित्तशक्ति (अर्थात् जीवात्मा) अपरिगामिनी है। श्रद्धा जिस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता केवल मात्र बौद्धेय बोधों के कारण दर्शित विषया है। वैसे यह अपरिणामिनी होने के कारण परम शुद्ध एवं अनन्त है जब योगी का प्रख्या रूप चितसत् परम श्रद्धा को धारण करता है तो यह योग के परमलक्ष्य को प्राप्त कराने में सफलीभूत अपनी श्रद्धा रूप उपाय प्रत्यय का अवलम्ब लेता है। उपाय प्रत्यय का अवलम्ब लेने वाले योगियों के लिये भगवान पतंजलिदेव ने निम्न प्रकार से निर्देश किया है।

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधि

प्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्।

अर्थात् उपाय प्रत्यय अवलम्ब लेने वाले योगियों के लिए श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि एवं प्रज्ञा यह क्रम रहता है इसमें श्री व्यासदेवजी ने अपना भाष्य लिखते हुए इस सूत्र पर जो अर्थ समझाया है वह इस प्रकार है—

उपायप्रत्ययो योगिनां भवति। श्रद्धा चेतसः सम्प्रसादः, सा हि जननीव कल्याणी योगिन पाति। तस्य हि श्रद्धानस्य विवेकार्थिनो वीर्यमुपजायते, समुपजातवीर्यस्य स्मृतिरुपतिष्ठते,स्मृत्युपस्थाने च चित्तमनाकुलं समाधीयते, समाहितचित्तस्य प्रज्ञाविवेक उपावर्तते, येन यथावद् वस्तु जानाति, तदभ्यासात्तद्विषयाच्च वैराग्याद् असंप्रज्ञातः समाधिर्भवति।

अर्थात् उपाय प्रत्यय के द्वारा ज्ञान की प्राप्ति प्रयत्नशील योगियों को हुआ करती है। श्रद्धा चित्त का एक बहुत बढ़ा प्रसाद है। श्रद्धा परम कल्याण के देने वाली जन्म देने वाली माता की तरह योगी की रक्षा किया करती है। जो योगी विवेक ज्ञान को प्राप्त करने के लिए दृढ़ श्रद्धा वाला होकर के अपने प्रयत्न में लगा रहता है उसकी श्रद्धा उत्तरोत्तर बल पाकर के दृढ़ता को पाती चली जाती है। जब इस योगी के मन में पूरी–पूरी दृढ़ता बढ़ती चली जाती है तो स्मृति का उपस्थान हो जाया करता है जिस योगी को स्मृत्युप्रस्थान हो जाता है उसका चित्त चारों ओर से समाहित हो जाता है और ऐसा योगी बहुत जल्दी प्रज्ञाविवेक को पा लेता है। जिससे वह वस्तुतत्त्व की यथार्थता का ज्ञाता हो जाता है। यहाँ तक का यह विषय सम्प्रज्ञात समाधि का विषय है जब इस समाधि में योगी यथार्थता का ज्ञाता हो जाता है तब उसको इस विषय में भी वैराग्य हो जाता है फिर वह पूर्व जितेन्द्रिय होकर अपने अभ्यास को उत्तरोत्तर और बढ़ाता चला जाता है तब वह योग की पराकाष्ठा रूप असम्प्रज्ञात समाधि को पा लेता है। सम्प्रज्ञात योग में वह जिन–जिन विषयों का दृष्टा रहा है असम्प्रज्ञात योग के अभ्यास से

उन्हीं सभी से वह पूर्ण विरिक्त हो जाता है तब उसका इस लोक और परलोक के वासनिक दृश्यों से कोई भी सम्बन्ध नहीं रहता किन्तु यह सभी साधनायें जितेन्द्रिय साधक पर ही आधारित रहती हैं। आजकल के समाज मे प्रायः सभी लोग इस प्रकार के प्रश्न किया करते हैं कि समान स्थिति क्यों नहीं होती। उनमें मैं यह समझा देना चाहता हूँ कि अधिकार भेद सामने रहता है, प्रकृति सम्भव तीन गुण हैं और उनका इतना अधिक व्यवहार है कि सारे संसार के किन्हीं भी प्राणियों का स्वभाव नहीं मिलता। योग के जिज्ञासु अधिकारियों में भी यह तारतम्य बराबर चलता है। विशेष रूप से भगवान पतंजलि-देव ने योगियों के नौ भेद विशेष रूप से माने हैं। साधना करने वाले व्यक्तियों में ऊपर लिखे गये सिद्धान्तों के अनुसार तो सभी के अन्दर तो परमावश्यक है ही किन्तु उसके साथ-साथ यह भी देखना जरूरी हो जायेगा कि साधना करने वाला व्यक्ति कितने उत्साह एवं लगन वाला है। उनमें से गणनात्मक रूप से जैसे अधिकारी योगियों के नौ भेद इस प्रकार से हैं। मृदु संवेग और उसके साथ मृदु उपाय दूसरा मध्य संवेग और मृदु उपाय तीसरा तीव्र संवेग और मृदु उपाय-इस प्रकार यह तीन प्रकार के हो गये उसमें यदि मध्यसंवेग एवं मृदु उपाय मध्यसंवेग मध्यउपाय मध्यसंवेग एवं अधिमात्र उपाय। इस प्रकार यह छः हो गए। उसके बाद तीव्र संवेग एवं मृदु उपाय-तीव्र संवेग एवं मध्य उपाय तीव्र संवेग एवं अधिमात्र उपाय। इस प्रकार से यह नौ भेद हो गये। भगवान पतंजलि देव का आदेश है कि-

तीव्र संवेगानामासन्नः।। समाधिलाभः समाधि फलं च भवतीति।।

अर्थात् जो व्यक्ति तेज लगन वाले हैं-और उनको साधन भी समुचित रूप से उत्तमोत्तम मिल गये हैं। यह लोग प्रयत्न करके जल्दी से जल्दी समाधि स्थिति को पा जाया करते हैं किन्तु खूब गाढ़ी लगन होने पर भी और उत्तमोत्तम साधन उपलब्ध हो जाने पर भी किसी भी साधन को जब तक हम निरन्तर तप और ब्रह्मचर्य के साथ उसका सेवन नहीं करेंगे तब तक वह अभ्यास दृढ़ भूमि का वाला नहीं बनेगा। भगवान पतंजलि देव का आदेश है कि-

स तु दीर्घकालनैन्तर्य्यसत्कारासेविती दृढ़भूमिः।

अर्थात् जो अभ्यास लम्बे समय तक लगातार आदरपूर्वक सेवन किया जावेगा वही दृढ़भूमि हो सकेगा। जो अभ्यास परिपक्व हो जाएगा वह अडिग होगा। इसलिए साधक को चाहिए कि वह अपने अभ्यास को परिपक्व करने के लिए तत्परता जितेन्द्रियता का भी पूर्णरूपेण पालन करे। अखिलात्मा भगवान श्रीकृष्ण ने अपनी श्रीमद्भगवद् गीता के अठारहवें अध्याय में आदेश दिया है कि-

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्काय–मानसः। ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं–समुपाश्रितः। अहंकारं बलं दर्पं कामंक्रोधं परिग्रहम्। विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते।

अर्थात् अभ्यासी साधक को चाहिए एकान्त में रहकर हल्का भोजन करते हुए मन वाणी और शरीर पर नियन्त्रण रखते हुये एवं अपने मन में पूर्ण वैराग्य भावनाओं को दृढ़ करके काम–क्रोध–बल–घमण्ड एवं अहंकार का पूर्ण रूपेण त्याग करके अपने आपको ब्रह्ममय बना ले। तब वह उपाय प्रत्यय वाला योगी उपरोक्त नियमों का पालन करता हुआ श्रद्धा के समुचित फल दृढ़ता संलग्नता के साथ मृत्युस्थान को पाकर प्रज्ञा विवेक एवं संप्रज्ञात समाधि की पराकाष्ठा को पहुँच कर यथार्थता का ज्ञाता बन जाया करता है आजकल कलिकाल के समय में योग के उपदेष्टा अपनी–अपनी मतभेद के कारण विभिन्न प्रकार के प्रचाव सिद्धान्त रहित किया करते हैं जिससे साधक उत्थान के अतिरिक्त वासना के गर्त में डूबा रहा करता है। हमारे पूर्वजों ने तो जहाँ तक आदेश दिया है कि –साधक के मन में वासना की भावना भी पैदा न हो। भगवान श्रीकृष्ण स्वयं निर्देश करते हैं कि–

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजाजते। सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते। क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः स्मृतिभ्रशाद्बुद्धि–नाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।

अर्थात् जो मनुष्य मन में विषयों का चिन्तन भी कर लेता है तो धीरे–धीरे उसकी वह वासनिक प्रवृत्ति पूर्ण रूपेण दृढ़ हो जाती है और वासनिक प्रवृत्ति के दृढ़ हो जाने पर चाही हुई वस्तु नहीं मिल पाती तो मन में क्रोध पैदा हो जाता है एवं क्रोध पैदा हो जाने के बाद स्मृतिभ्रंश बुद्धिनाश एवं अन्त में प्रणश्यति की सीमा को पाकर नष्ट भ्रष्ट हो जाता है। इसलिए साधक को चाहिए कि इस लेख में लिखे हुये उपरोक्त नियमों को भली प्रकार समझकर अभ्यास की दृढ़ता को बढ़ाए तभी कल्याण के आदि स्त्रोत को प्राप्त कर सकेगा। शेष शुभ।।

सर्वे भवन्तु सुखिनः
सर्वे सन्तुः निरामया।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु
मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्।।

सम्पादकीय--

सिद्धयोग—हमारी प्यारी पत्रिका

--आचार्य (डॉ.) दासलाल जी महाराज

प्रिय पाठकगण/गुरु भाई–बहिन,

जय गुरुदेव की!

क्षण–क्षण स्मरणीय गुरुदेव योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज के संकल्प से प्रकट कल्पवृक्ष के रूप में हमारी पत्रिका **'सिद्धयोग'** अपनी आयु के 52 वर्ष पूरा करके अप्रेल विशेषांक के साथ ही 53वें वर्ष में प्रवेश कर जाएगी। श्री गुरुदेव भगवान ने इस पावन वृक्ष का आरोपण सन् 1968 में किया था, जिसका एकमात्र लक्ष्य था कि योग जिज्ञासु इसके माध्यम से योग तत्त्व व सिद्धान्त को समझ लें जिससे योग मार्ग पर चलकर आध्यात्मिक उन्नति के चरम लक्ष्य की ओर वे चल सकें। आज के इस विकासशील युग में भौतिक उन्नति के साथ–साथ धार्मिक एवं आध्यात्मिक क्षेत्र में भी जागरूकता आ गयी है। इसी क्रम में धार्मिक व आध्यात्मिक पत्र–पत्रिकाओं का भी समाज में व्यापक प्रचार कार्य चल रहा है। किन्तु 'सिद्धयोग' जिस प्रकार से योग के सैद्धान्तिक दुरूह व दुर्बोध्य पक्ष को अत्यन्त सरल भाषा में बोधगम्य बना देती है ऐसा दूसरी पत्रिकाओं में देखने को नहीं मिलता।

'सिद्धयोग' गुरुदेव से सम्पर्क बनाये रखने का सक्षम माध्यम रही है। साधक घर बैठे ही गुरुदेव के उपदेश एवं आज्ञाओं का संकेत पा जाया करते है। पत्रिका के माध्यम से भी गुरुदेव की आत्मिक शक्ति का संचार शिष्यों में होता रहता है। साधकों के मन में उठने वाले संशयों का निवारण भी इससे हो जाता है।

वेदान्त प्रक्रिया में आत्म दर्शन की ओर चलने के साधन के रूप में तीन अंगों का वर्णन किया गया है। वेदान्त का सिद्धान्त है—**आत्मा व अरेद्रष्टव्यः, श्रोतव्यः मन्तव्यः निदिध्यासितव्यः।** अर्थात् आत्मा का दर्शन करना चाहिए। इसके लिए सर्वप्रथम श्री गुरुदेव के मुख से आत्म तत्त्व के विषय में श्रवण करना चाहिए। श्रवण करने के पश्चात् मनन करना चाहिए। ठीक प्रकार से मनन हो जाने पर निदिध्यासन में बैठना चाहिए। निदिध्यासन ही योग की भाषा में ध्यान–योग का अभ्यास कहलाता है। श्री गुरुदेव जब शिष्य को उपदेश करते हैं तो शब्द के माध्यम से शिष्य पर शक्ति संचार होता है। योग के ग्रन्थों में शक्तिपात की अनेक प्रकार की दीक्षाओं का वर्णन मिलता है। इनमें संकल्प दीक्षा, स्पर्श दीक्षा, दृग दीक्षा,

हार्द दीक्षा आदि दीक्षाओं का वर्णन मिलता है। गुरुदेव दीक्षा दान के समय गुरुमन्त्र के माध्यम से शिष्य के दाहिने कर्ण में शक्ति का संचार करते हैं। आनन्दकन्द श्री गुरुदेव भगवान् ने 'सिद्धयोग' परम्परा को अक्षुण्ण रखा है। सिद्धयोग के पठन से कोई भी योग जिज्ञासु योग की परिभाषा, स्वरूप, विधि एवं लक्ष्य समझ सकता है। श्रद्धालु साधकों में सिद्धयोग के माध्यम से ही गुरुदेव के दर्शन एवं कृपालाभ होते देखा गया है। जीवन से परेशान कई व्यक्तियों को सन्मार्ग मिला और जीवन की धारा ही बदल गयी। पत्रिका के पठन–पाठन एवं अनुशीलन से उत्साह, उल्लास एवं मार्गदर्शन मिलता है। योग शास्त्र अत्यन्त गहन है, इसके दुरूह विषयों को समझना बहुत कठिन है, किन्तु सिद्धयोग ने इसे अत्यन्त सरल एवं सुबोध्य बनाया है। पत्रिका का अध्ययन साधक के अन्दर श्रद्धा का बीज बो देता है। जिसे योग साधना की नींव माना गया है। जिसमें सम्यक् श्रद्धा नहीं है, वह विनष्ट हो जाता है। भगवान के गीता में वचन है–''**संशयात्मा विनश्यति**'' अर्थात् संशय युक्त व्यक्ति पथभ्रष्ट होकर पतन की ओर चला जाता है। इसलिए 'सिद्धयोग' श्रद्धा एवं स्वाध्याय का अचूक साधन है। साधक को स्वाध्याय में प्रमाद नहीं करना चाहिए। गुरुदेव अपने शिष्यों को उपदेश करते हुए कहते हैं कि–''**स्वाध्यायाद् मा प्रमदितव्यम्**'' अर्थात् स्वाध्याय में कदापि प्रमाद नहीं करना चाहिए। गुरुमन्त्र का जाप भी उत्तम श्रेणी का स्वाध्याय है; इसमें प्रमाद या लापरवाही नहीं करनी चाहिए। अस्तु।

पत्रिका के लिए, गुरुदेव के समय से ही, किसी प्रकार की विज्ञापन आदि सामग्री प्रकाशनार्थ स्वीकार कर वित्तीय आय जुटाने अथवा सहायता प्राप्त करने का उद्देश्य नहीं रहा है, वह आज भी यथावत् है। 25–30 हजार रुपये का वार्षिक घाटा सहन करके भी पत्रिका अबाध गति से प्रकाशित हो रही है, यह सब पूज्य गुरुदेवजी की कृपा का ही फल है। उदारमना गुरुभाई–बहिनों के आर्थिक सहयोग से घाटे की पूर्ति हो जाती है।

अन्त में, मैं उन सभी मनीषी विद्वान लेखकों एवं रचनाकार कवियों के प्रति आभार प्रकट करना अपना कर्तव्य समझता हूँ, जिनके उत्कृष्ट योगपरक लेख एवं सारगर्भित रचनाओं से पत्रिका की महत्ता व शोभा बनी हुई है। मैं उनसे इसी प्रकार अपनी रचनायें, लेखादि निरन्तर भेजते रहकर स्नेह भाव बनाये रखने का नम्र अनुरोध करता हूँ। पत्रिका के पाठकों व ग्राहकों से भी निवेदन करूँगा कि वे नियमित ग्राहक बने रहें तथा कम से कम 5 नये सदस्य अवश्य जोड़ें। इस दिशा में गंगापुर मंडल, कानपुर मंडल व सहारनपुर मंडल के साधकों का प्रयास वस्तुतः स्तुत्य है। इस अंक के साथ ही वार्षिक ग्राहकों का शुल्क समाप्त हो रहा है, अतः समय पर आगामी वर्ष के लिए शुल्क भेज दें। वार्षिक शुल्क रु. 200/– हो गया है तथा आजीवन

शुल्क रु. 1000/– हो गया है।

आप सभी के लिए आने वाला वर्ष मंगलमय हो।

आनन्दकन्द श्री प्रभुजी का परम पावन प्राकट्य दिवस श्री रामनवमी योग महोत्सव के रूप में सेंवाई आश्रम, आगरा में बड़े हर्षोल्लास व धूमधाम से मनाया जायेगा, सभी श्रद्धालु भक्त उसमें सम्मिलित होकर श्री प्रभुजी की कृपा कोर को पाकर जीवन को धन्य बना लें। इस अवसर पर श्री प्रभुजी के चरणों में सभी भक्तों का कोटि–कोटि नमन है।

श्री रामनवमी योग महोत्सव दिनांक 31 मार्च से 1 व 2 अप्रैल को मनाया जाना निश्चित हो चुका है।

सभी गुरु भक्तों को चाहिये कि श्री रामनवमी के पवित्र उत्सव पर धाम पर पहुँचें तथा गुरुदेव की कृपा को प्राप्त करें। जो यह मानते हैं कि गुरुदेव तो हैं नहीं वहाँ जाकर क्या करेंगे यह उनकी महान भूल है। गुरुदेव की शक्ति तो अनवरत बरसती रहती है। गुरुदेव कहा करते थे कि श्री सिद्धगुफा से ही सारी दुनिया को योग का प्रकाश मिल रहा है। अतः सभी आश्रम की शाखाओं के संचालकों को चाहिये स्वयं भी आवें और अन्य गुरु भक्तों को भी पवित्र धाम के दर्शन करावें ताकि योग ध्यान में उत्तरोत्तर उन्नति पा सकें। जीवन में यदि आत्म दर्शन पा लिया तो अत्युत्तम बात है अन्यथा 'महती विनष्टि' महान संपात की बात है–बहुत बड़ी हानि की बात है। अतः आत्मदर्शन का लक्ष्य सामने रखते हुए **'कार्यम् वा साधेयम् देहं वा पातेयम्'** अर्थात् या तो आत्मसिद्धि रूप महान कार्य को सिद्ध करूँगा या मेरा देह पात हो जाए तब भी कोई चिन्ता न मानते हुए सतत् आत्म लाभ की ओर अग्रसर रहना चाहिए। भौतिक भोगवाद प्रपञ्च है अपने साथ धोखा है। अतः सत्य की प्राप्ति के लिए प्राणपण से लग जायें।

अन्त में मैं उन सभी सुधी लेखक बन्धुओं, विद्वानों को धन्यवाद देना चाहता हूँ जिनके सुन्दर एवं योग परक लेखों के कारण पत्रिका की गरिमा व लोकप्रियता बनी हुई है। जो इसके ग्राहकों को प्रेरणा देकर उन्हें लाभ पहुँचा रहे हैं वे भी धन्यवाद के भागी हैं तथा स्तुत्य हैं।

जय गुरुदेव जी की।

आपका

डॉ. दासलाल योगाचार्य

संपादक–सिद्धयोग

श्रीमद्भागवत् में योग-परिचर्चा

डॉ. विजय सिंह

पिछले अध्याय में आपने पढ़ा कि जब श्रीकृष्ण-बलराम पिता वसुदेव जी एवं माता देवकी से जेल में मिले तो वे दोनों इन्हें भगवान बुद्धि से समझते हुये उन्हें अपने हृदय से पुत्रवत् नहीं स्नेह दिया। यह देख भगवान ने उन पर अपनी योगमाया फैला दी, जो उनके स्वजनों को मुग्धकर उनकी लीला में सहायक होती है–

पितरावुपलब्धार्थौ विदित्वा पुरुषोत्तमः।
मा भूदिति निजां मायां ततान जनमोहिनीम्।। 1 ।।

अ. 45 स्क. 10

ऐसा होते ही वे इन्हें आलिंगन करते हुये स्नेह से अपने गोद में बैठा लिये। भगवान ने कहा–माता-पिता जी यह दुर्दैववश हम आपके पास नहीं रहे, जो लाड़ प्यार मिलता उससे वंचित रह गये।

महामति वसुदेव जी ने यज्ञोपवीत संस्कार आचार्य गर्ग जी द्वारा श्रीकृष्ण-बलराम का कराया। अब वे गुरुकुल में निवास करने हेतु अवन्तीपुर (उज्जैन) सान्दीपनि मुनि के पास गये। वहाँ गुरु की उत्तम सेवा श्रीकृष्ण एवं बलराम जी ने ईष्ट भाव से भक्ति पूर्वक किया। उन्होंने दोनों भाइयों को छहों अंग और उपनिषदों के सहित वेदों की शिक्षा दी।

शुकदेव जी कहते हैं–परीक्षित्! भगवान श्रीकृष्ण और बलराम सारी विद्याओं के प्रवर्तक हैं। लीलावत इस समय पढ़ रहे हैं। वे गुरुजी से केवल एक बार सुनकर सारी विद्यायें सीख लीं। मात्र चौसठ दिन-रात में ही दोनों भाइयों ने चौसठ कलाओं का ज्ञान प्राप्त करके गुरुदेव सान्दीपनि मुनि से प्रार्थना किया कि 'आप की जो इच्छा हो वह गुरु-दक्षिणा में माँग लें।' वे मुनि इनकी अलौकिक प्रतिभा को जान चुके थे अतः अपनी पत्नि की प्रेरणा से गुरु दक्षिणा माँगी कि 'प्रभास क्षेत्र में हमारा बालक डूब कर मर गया था, उसे तुम लोग ला दो।'

भगवान ने समुद्र तट पर आकर समुद्र का आवाहन किया। समुद्र अनेक प्रकार की पूजा सामग्री लेकर भगवान का पूजा किया और कहा–देवाधि देव श्रीकृष्ण मैंने उस बालक को नहीं लिया है। हो सकता है मेरे जल में रहने वाला पंचजन नामक दैत्य जो शंख के रूप में रहता है, वह बालक चुरा लिया हो।

भगवान ने तुरन्त जल में प्रवेश कर शंकासुर को मार डाला परन्तु उसके पेट में वह बालक नहीं मिला। शंख लेकर भगवान यमराज की पुरी संयमनी में जाकर अपना शंख बजाया। यमराज ने बहुत बड़ी पूजा की और कहा—समस्त प्राणियों के हृदय में विराजमान सच्चिदानन्द—स्वरूप, लीला से मनुष्य बने सर्वव्यापक परमेश्वर! मैं आपकी क्या सेवा करूँ?

श्रीभगवान ने कहा—यमराज! यहाँ अपने कर्मबन्धन के अनुसार मेरा गुरुपुत्र लाया गया है। तुम मेरी आज्ञा से उसके कर्म पर ध्यान न देकर उसे मेरे पास ले आओ। यमराज गुरु पुत्र को ले आया। यदुवंश कुल भूषण श्रीकृष्ण और बलराम जी उस बालक को लेकर उज्जैन गुरुदेव के पास आये और बालक को अपने गुरुदेव को सौंप दिया और पूछा—आप और कुछ जो चाहें माँग लें। सन्दीपनि मुनि ने कहा—बेटा! तुम दोनों ने भलीभाँति गुरुदक्षिणा दी। अब और क्या चाहिये? जो तुम्हारे जैसे पुरुषोत्तमों का गुरु है, उसका कौन सी कामना अपूर्ण रह सकती है? अब तुम दोनों घर जाओ।

गुरुणैवमनुज्ञातौ, रथेनानिलरंहसा।
आयातौ स्वपुरं तात पर्जन्यनिनदेन वै।।49।।

अ. 45 स्क. 10

अध्याय छियालिस में उद्धव जी की ब्रजयात्रा का विवरण है। उद्धव जी वे बृहस्पतिजी के शिष्य और परम बुद्धिमान थे। वे भगवान श्रीकृष्ण के सखा एवं मंत्री भी थे।

एक दिन श्रीकृष्ण ने उद्धव जी से कहा—प्रिय! तुम ब्रज में जाओ। वहाँ मेरे माता–पिता यशोदा जी एवं नन्दबाबा एवं मेरी गोपियाँ मेरे विरह में बहुत दुःखी हो रही हैं, उन्हें तुम मेरा सन्देश सुनाकर आनन्दित करो। मेरी गोपियाँ इस समय बड़े कष्ट और यत्न से अपने प्राणों को किसी प्रकार रख रही हैं। मैंने कहा था ''मैं आऊँगा''। वही उनके जीवन का आधार है। उद्धव और क्या मैं कहूँ। मैं ही उनकी आत्मा हूँ। वे नित्य–निरन्तर मुझमें ही तन्मय रहती हैं।

धारयन्त्यति कृच्छ्रेण प्रायः प्राणान् कथञ्चन।
प्रत्यागमनसन्देशैर्बल्लव्यो मे मदात्मिकाः।।6।।

अ. 46 स्क. 10

भगवान श्रीकृष्ण की आज्ञा से उद्धव जी रथ से ब्रज में सायंकाल होते–होते पहुँचे। नन्दबाबा उद्धवजी को देख अति प्रसन्न हुये मानो स्वयं श्रीकृष्ण जी आ गये हों। उन्होंने उद्धव जी से सब कुशलात जानी और पूछा—अच्छा उद्धव जी! श्रीकृष्ण कभी हम लोगों को भी याद करते हैं? यहाँ उनकी माँ, हम तथा सखा स्वजन जिनके सर्वस्व स्वामी श्रीकृष्ण हैं, क्या वे कभी इनका स्मरण करते हैं?

उद्धव जी! श्रीकृष्ण का हृदय अति उदार और उनकी शक्ति अनन्त है, उन्होंने दावानल से, आँधी-पानी से, वृषासुर, अजगर आदि अनेकों मृत्यु के कारणों से एक बार नहीं अनेक बार हमारी रक्षा की है। बाबा नन्द ने कहा—उद्धव! श्रीकृष्ण के विचित्र चरित्र उन्मुक्त हास, मधुर भाषण आदि का स्मरण करते-करते हम तन्मय रहते हैं। अब हमसे कोई काम-काज नहीं हो पाता।

श्रीकृष्ण लीलाओं का स्मरण-कथन करते करते नन्द जी भावविह्वल हो गये। गला अवरुद्ध हो गया। वे चुप हो गये। यशोदा रानी पुत्र स्नेह से वहीं बैठी अश्रुपात करती रहीं। श्री उद्धव जी स्वयं इस अनुराग का प्रथम पान कर आनन्दमग्न हो गये।

उद्धव जी ने कहा—हे मेरे परम पूजनीय। आप महा भाग्यवान हैं क्योंकि चराचर के कर्ता-धर्ता नारायण के प्रति आपका वात्सल्यस्नेह सराहनीय है। अहा! आप दोनों का मन तो उनमें तन्मय है।

जो जीव मृत्यु के समय अपने मन को एक क्षण के लिये भी उनमें लगा देता है, वह समस्त कर्म-वासनाओं को धो डालता है और ब्रह्ममय होकर परमगति को प्राप्त होता है।

यस्मिञ्जनः प्राण वियोग काले
क्षणं समावेश्य मनो विशुद्धम्।
निर्हृत्य कर्माशयमाशु याति
परां गतिं ब्रह्ममयोऽर्कवर्णः॥32॥

अ. 46 स्कं. 10

भगवान के तात्विक स्वरूप का वर्णन करते हुये उद्धव जी ने कहा—भक्तवत्सल भगवान श्रीकृष्ण थोड़े ही दिनों में ब्रज में आयेंगे और आप सभी को आनन्दित करेंगे।

बाबा भगवान श्रीकृष्ण केवल आप दोनों के ही पुत्र नहीं हैं, वे ही समस्त प्राणियों के आत्मा, पुत्र पिता-माता और स्वामी भी हैं।

युवयोरेव नैवायमात्मजो भगवान हरिः।
सर्वेषामात्मजो ह्यात्मा पिता माता स ईश्वरः॥42॥

अ. 46 स्कं. 10

श्रीकृष्ण चर्चा में ही पूरी रात्रि व्यतीत हो गई। ब्रह्म वेला में ब्रजांगनाओं ने नन्दबाबा के दरवाजे पर सोने का रथ खड़ा देखा। और अनुमान करने लगीं कि कौन आया है।

गुरुकृपा : एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण

श्री कपिलदेव उपाध्याय, बी. एस. सी.

गुरुकृपा को समझने के लिए एक साधारण से वैज्ञानिक तथ्य का सहारा लेना पड़ता है। हालांकि यह बात शतप्रतिशत ठीक है कि विज्ञान की आज तक की उपलब्धि भी अभी तक योग की वर्णाक्षरी से भी कम है।

आज के युग में रेडियो से सभी लोग परिचित हैं पर यह रेडियो बजता कैसे है इस तथ्य को सभी लोग नहीं समझ पाते। पहले इस तथ्य पर थोड़ा सा प्रकाश डाल देना उचित समझता हूँ। अगर एक ताम्बे के लपेटे हुये तार (Coil) तथा एक विद्युत धारक Condenser को लेकर एक विद्युत सर्किट का निर्माण किया जाये तथा इसके अन्दर विद्युत तरंग को दौड़ाया जाये तो एक बड़ी ही मजेदार घटना घटती है जब विद्युत क्वायल से होकर गुजरती है तो क्वायल से जुड़ा हुआ कन्डेन्सर विद्युत शक्ति से भरने लगता है तथा साथ ही साथ क्वायल अपने धर्म के अनुसार एक उल्टी दिशा में विद्युत तरंग उत्पन्न करने लगता है जिसे (Eddi) ऐडिकरेन्ट कहते हैं। धीरे–धीरे इस ऐटिकरेन्ट की मात्रा सर्किट में प्रवाहित करेन्ट की मात्रा से अधिक हो जाती है और करेन्ट उल्टी दिशा में बहने लगता है। अब कन्डेन्सर की पहली वाली प्लेट से विद्युत निकलती है तथा दूसरी वाली में जमा होने लगती है और कुछ देर के बाद ऐडिकरेन्ट की दिशा में परिवर्तन हो जाता है यह क्रिया बार–बार होने से परिणामस्वरूप सर्किट में करेन्ट की एक तरंग उठने लगती है।

इस तरंग की अपनी लहर तथा कम्पन होती है जिसकी मात्रा को कन्डेन्सर की क्षमता को बढ़ाकर या घटाकर कम या अधिक किया जा सकता है अगर इस सर्किट के पास किसी दूसरी क्वायल जिसका सम्बन्ध रेडियो के एरियल के साथ हो, लाया जाये जिसमें सारे रेडियो स्टेशनों की तरंगें आकर टकराती हैं तो सिर्फ उसी स्टेशन की तरंग रेडियो यन्त्र में जा पायेगी जिसकी लहर तथा कम्पन भीतर वाली सर्किट की लहर तथा तरंग के समान होगी और वह हमारे यन्त्र में बजने लगेगा। इस समान की घटना को विज्ञान रेजोनेन्स कहता है। और बाकी तरंगें जो एरियल में हैं रह जाती हैं।

इस रेजोनेन्स की क्रिया को और अधिक स्पष्ट करने के लिये एक और उदाहरण देकर अपनी बात शुरू करूँगा। सिनेमा में नायक की भूमिका जो कर रहा है उसके ऊपर अगर खूब अत्याचार हो रहा हो तथा वह फूट-फूट कर रो रहा हो तो ऐसा देखने में आता है कि हाल में बैठे हुये कुछ दर्शक भी रोने लगते हैं जबकि बाकी लोग नहीं रोते। ऐसी हालत में यह कहा जा सकता है कि रोने वाला व्यक्ति दर्शक के साथ एक ही रेजोनेन्स में है गिरगिट तथा मेंढक जिस वातावरण में रहते हैं उनके शरीर का रंग वैसा ही हो जाता है या वे बदल लेते हैं यह भी रेजोनेन्स क्रिया को ही व्यक्त करता है।

अब बात आती है गुरु कृपा की। गुरु है क्या? मेरा तो अपना विचार यह है कि ईश्वर का स्थूल रूप गुरु होते हैं और गुरु का सूक्ष्म रूप ईश्वर कहलाता है। इस ईश्वर या गुरु की कृपा तरंगें सब समय प्रवाहित होती रहती हैं लेकिन हम अपने को उसके साथ रेजोनेन्स में नहीं ला पाते हैं। और उससे वंचित रह जाते हैं। इस शरीर को रेजोनेन्स में लाने की कला ही गुरु मुख से दीक्षा के रूप में हमें प्राप्त होती है।

मूल रूप में विज्ञान की यह क्रिया ही सारे धर्मों में ही है पैगम्बर साहब ने पहाड़ पर जो खुदा की वाणी सुनी थी वह यही थी। क्योंकि उस समय उस प्रभु की सारी विलक्षणतायें शरीर में प्रकट होने लगती हैं, और मन आनन्द से विभोर बना रहता है। जिसका वर्णन विभिन्न भक्तों तथा मनीषियों ने विभिन्न रूपों में किया है। मीरा ने इसी स्थिति की ओर संकेत करके गाया है ''पायो जी मैंने राम रतन धन पायो'' भक्त कवि तुलसीदास ने भी इसी की पुष्टि की है ''कबहुँक हो यह रहनि रहौंगो।'' उनका उद्देश्य किस 'रहनि' की ओर संकेत कर रहा है।

कुछ मुसलमान शायरों ने भी इसी स्थिति को बड़ी ही सुन्दर ढंग से व्यक्त किया है। मीर की 'मीर' ने एक शेर लिखा है—

तुम मेरे पास होते हो गोया।
जब कोई दूसरा नहीं होता।।

बहुत दिनों तक यह दूसरा शब्द मुझे खटकता था और मैं इस शेर को कुछ इस ढंग से पढ़ता था—

तुम मेरे पास होते हो गोया।
जब कोई तीसरा नहीं होता।।

पर आज समझ रहा हूँ कि यह तो अध्यात्म की ऊँची स्थिति की बात कह रहे हैं जब हम उसके साथ एकदम रेजोनेन्स में होते हैं।

एक और सज्जन लिखते हैं कि–

दिल के आईने में है तस्वीरें यार।
जब जरा गर्दन झुकाई देखली।।

शरीर को रेजोनेन्स में लाने की एक प्रक्रिया का वर्णन तो नहीं है। क्योंकि ध्यान ही उसकी प्रक्रिया है और ध्यान हृदय में भी किया जाता है। भक्त शिरोमणि हनुमान ने हृदय को चीरकर ही राम और सीता को दिखाया था क्योंकि शाम्भवी मुद्रा में ठोढ़ी को कण्ठ से लगा लेते हैं जिसे गर्दन झुकाना भी कह सकते हैं।

हिन्दी की महान कवियित्रि महादेवी वर्माजी ने भी इसी को व्यक्त किया है–

क्या पूजा क्या अर्चन रे
पिय–पिय जिसके अधर ताल देता
पलकों का नर्तन रे ।।

जो हमेशा ही अपने परम आराध्य के ख्याल में डूबा रहता है अर्थात् हमेशा ही रेजोनेन्स में बना रहता है उसके सब कर्म शेष हो जाते हैं।

ऐसा देखने में आता है कि एक ही गुरु के शिष्यों में कुछ द्वेष या ईर्ष्या की भावना होती है जो कि निराधार है एक ही तरह की दो रेडियो दो पड़ोसियों के पास है एक में स्टेशन ठीक पकड़ता है दूसरे में नहीं तो इसके लिये वे आपस में किसी तरह का तनाव तो पैदा नहीं करते क्योंकि वे इस तथ्य को समझते हैं कि हमारे रेडियो में ही कुछ खराबी है न कि रेडियो स्टेशन में। गुरु कृपा के बारे में भी हमारा दृष्टिकोण ऐसा ही होना चाहिए।

इसी प्रसंग में एक बात याद आती है। जगत गुरु शंकराचार्य अपने विद्वान् शिष्यों के साथ बैठे हुये थे। उस दिन ब्रह्मविद्या के किसी गूढ़ तत्त्व की व्याख्या करनी थी। लेकिन बहुत देर तक बैठे रहने पर भी जब वे नहीं बोले तो एक शिष्य ने कहा गुरुदेव अब शुरू करें। गुरुजी बोले थोड़ा रुक जाओ। पद्मपाद कपड़े धोने गया है वह आ जाये। इस पर बैठे हुये सभी शिष्यों को आश्चर्य हुआ वह तो अशिक्षित है वह क्या समझ पायेगा। कुछ देर के बाद वह गुरु के चरणों में आकर बैठा और गुरुदेव ने प्रवचन आरम्भ किया। उसमें कठिन से कठिन संस्कृत के श्लोक भी थे। जब प्रवचन समाप्त हुआ तो गुरुदेव ने सभी शिष्यों से पूछा कि मैंने क्या कहा पर कोई भी सही ढंग से व्यक्त नहीं कर सका। अन्त में पद्मपाद की बारी आयी। जब गुरुदेव ने उससे पूछा तो उसने गुरुदेव के मुख से निकले सारे शब्दों को ज्यों का त्यों दोहरा दिया। सभी पण्डितों को बड़ा ही आश्चर्य हुआ। यह घटना सत्य है यह है गुरु के साथ रेजोनेन्स में रहने का विज्ञान।

इस प्रकार जो व्यक्ति चलते फिरते सोते बैठते खाते पीते सब समय अपने इष्टदेव के ख्याल में ही डूबा रहता है वह बहुत जल्दी ही अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है, स्वयं गुरुदेव के मुख से सुन चुका हूँ कि महाभारत की लड़ाई समाप्त होने के बाद अर्जुन ने श्रीकृष्ण से पुनः गीता सुनाने का आग्रह किया पर भगवान बोले वह तो मुझे भी अब याद नहीं रहा उस समय तो मैंने योगयुक्त होकर परमात्मा की वाणी सुनी थी और तुम्हें सुनाई थी। यह योगयुक्त होना और रेजोनेन्स की क्रिया एक नहीं तो क्या है?

शोक संवेदना

● बड़े दुःख के साथ सूचित करना पड़ रहा है कि कानपुर निवासी श्री सुधाकर पाण्डेय जी की धर्मपत्नी श्रीमति पुष्पलता पाण्डेय का 7 दिसम्बर को देहावसान हो गया है। वे 73–74 वर्ष की थीं और सन् 1979 में ही गुरुदेव जी से योग दीक्षा प्राप्त कर चुकी थीं। वर्तमान में वह कई वर्षों से किडनी रोग से पीड़ित थीं। श्री प्रभुजी उन्हें अपने चरणों में स्थान दें तथा दुःखी परिवार को इस दुःख को सहन करने की शक्ति दें।

● हरदोई निवासी पुराने गुरुभाई श्री पुत्तान सिंह गौर के सबसे छोटे पुत्र सब्लू का 27 दिसम्बर को देहावसान हो गया है। वे 39–40 वर्ष की उम्र के थे तथा गुर्दे के रोग से परेशान थे। इस दुःख की बेला में हम गौर परिवार को अपनी हार्दिक शोक संवेदना प्रेषित करते हैं। प्रभु इन्हें इस महान दुःख को सहन करने की शक्ति दें व स्वर्गीय बच्चे को अपने चरणों में स्थान दें।

सिद्धयोग परिवार
श्री सिद्ध गुफा संवाई
एत्मादपुर, आगरा।

यौगिक प्रश्नोत्तरी

पूज्यपाद श्री गुरुदेव जी द्वारा

आश्रम का शुद्ध वातावरण है। योग–अभ्यासी लोग उठ चुके हैं। ब्रह्मचारी लोग अपनी अपनी हठ योग की साधनाओं में नियम पूर्वक लग चुके हैं। आश्रम में ठहरा हुआ गृहस्थ समुदाय भी अपने अपने नित्य कृत्यों से निपट करके श्री गुरुदेव जी की आज्ञानुसार अपने–अपने आसन, बन्ध मुद्रायें आदि का अभ्यास करके जैसा जिसको आदेश था अपने–अपने ध्यानाभ्यास में बैठ गये। थोड़ी देर बाद सभी नैतिक क्रियाओं से निवृत्त हो गये। श्री आनन्दकन्द प्रभुजी की आरती, पूजन एवं गीता पाठ आदि के बाद नैत्यिक सत्संग का कार्य प्रारम्भ हो गया। उन में से एक जिज्ञासु ने आकर प्रश्न किया–

प्रश्न–हे गुरुदेव! कल के सत्संग में अपने सर्व चित्त वृत्ति निरोध को योग बतलाया था और उसके साथ ही यह भी कहा था कि सूत्र में भगवान पतञ्जलि देव ने ''सर्व'' शब्द को ग्रहण नहीं किया। इसलिये सम्प्रज्ञात समाधि जिसमें बराबर अनुभूतियाँ रहा करती हैं वह भी योग ही है। सो आप कृपा करके मुझे सम्प्रज्ञात योग ही समझाइये। वह कितने प्रकार का होता है और साधक निरोध तक कैसे पहुँच पाता है?

"हे पुत्र! सुनो भगवान पतञ्जलि देव ने सम्प्रज्ञात समाधि का इस प्रकार वर्णन किया है–

वितर्क विचारानन्दास्मितारूपानु–गमात् सम्प्रज्ञातः।

अर्थात् वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मितानुगत होने से सम्प्रज्ञात योग के चार भेद हैं जिनका वर्णन व्यास देव जी महाराज अपने भाष्य में निम्नांकित पंक्तियों में करते हैं–

वितर्कः = चित्तस्यालम्बने स्थूल आभोगः, सूक्ष्मो = विचारः, आनन्दः = ह्लादः, एकात्मिका संविद = अस्मिता, तत्र प्रथमश्चतुष्टानुगतः समाधि स वितर्कः, द्वितीयो वितर्क विकलः स विचारः, तृतीयो विचार विकलः सानन्दः चतुर्थस्तद्विकलोस्मिता मात्र इति, सर्व एते सालम्बनाः समाधयः।

इनमें से वितर्कनुगत समाधि उसको कहते हैं जिसमें चित्त को ठहराने के लिये स्थूल विषयों का अवलम्ब लिया जाता है। जैसे अग्नि, जल, वायु, आकाशादि स्थूल महाभूत हैं और विचारानुगत समाधि में स्थूल महाभूतों से होने वाली सूक्ष्म ज्ञानेन्द्रियों से होने वाला साक्षात्कार और आनन्दानुगत समाधि में योगी की आह्लादात्मिक स्थिति और उसके बाद

अस्मितानुगत योग में केवल मात्र अस्मि प्रत्यय का आभास होता है। सम्प्रज्ञात समाधि अन्य योगेक भेदों की स्थिति में योगी को स्वतः ही सिद्ध होती चली जाया करती है। बात तो केवल मात्र एक है मनुष्य को अपने अभ्यास से पीछे नहीं हटना चाहिए इसके बाद 'योगिनी योग एवं उपाध्यायः' अर्थात् योगी का योग ही गुरु बन जाया करता है वैसे वह सर्व शक्तिमान आदि गुरु परमात्मा घट–घट वासी अन्तर्यामी एवं प्राणी मात्र का उर प्रेरक है। साधक अपने अभ्यास के द्वारा जिस भूमिका को पार कर जाता है, उसके बाद उस परम गुरु परमात्मा की कृपा से उससे आगे की दूसरी भूमिका उसके सामने प्रकट हो जाया करती है। पूर्व भूमिका के दृश्य फिर उसके सामने नहीं आते। उदाहरणार्थ एक योगी जब वितर्कानुगत समाधि का अभ्यास करता है और निरन्तर अभ्यास के बल से उस भूमिका में लब्ध स्थितिक हो जाता है तो उसके अभ्यास में स्वतः ही अगली भूमिका के दृश्य आने लगते हैं और पीछे वाली भूमिका के दृश्य आने बन्द हो जाया करते हैं। इसी कारण श्री व्यासदेव जी महाराज ने अपनी पंक्तियों में इसका बिल्कुल स्पष्टीकरण कर दिया है। जैसे वितर्क विकलः सुविचारः और उसके बाद विचार विकलः सानन्दः अर्थात् जिस समय योगी वितर्कानुगत समाधि में जय प्राप्त कर लेगा तो उसका अभ्यास समाप्त हो जाने के बाद विचारानुगम योग में वितर्कानुगम के दृश्य नहीं आयेंगे और जब द्वितीय श्रेणी विचारानुगम को अपने अभ्यास के बल से जीत लेगा तो स्वतः ही आनन्दानुगत समाधि का आरम्भ हो जायेगा और उसमें दुबारा विचारानुगत के दृश्य नहीं आयेंगे। ठीक इसी प्रकार आनन्दानुगत और अस्मितानुगत की बात भी है ज्यों–ज्यों योगी उच्चतर भूमिकाओं में जय प्राप्त कर लेता है त्यों–त्यों उसे निम्न श्रेणी की भूमिकाओं के अभ्यास की आवश्यकता नहीं रहती और उस परम गुरु परमात्मा की कृपा से उत्तरोत्तर आगे ही बढ़ता चला जाता है।

प्रश्न—हे गुरुदेव! आप कृपा कर के यह बतलाइये कि साधक को यह योग किस प्रकार से प्राप्त होता है? क्या योगाभ्यासी की अपनी शक्ति पर यह सब साधना आधारित है या कोई और भी उपाय है? मैंने कई जगह पर ऐसा देखा है कि कितने ही साधकों को तो जन्म लेने मात्र से ही योग ज्ञान हो जाता है और कितने ही ऐसे हैं कि काफी प्रयत्न करने पर भी उन को स्थिति उपलब्ध नहीं हो पाती।

उत्तर—''हाँ पुत्र, ऐसा हुआ ही करता है। जो जन्म जन्मान्तर के अभ्यासी हैं चाहे वे अनन्त काल तक स्वर्ग में वास करके आये हों उनको जन्म ग्रहण करते ही अपने जन्म–जन्मान्तर के अभ्यास की स्मृति कायम हो जाती है और बिना किसी के प्रयास ही वे लब्ध भूमिक हो जाया करते हैं। भगवान पतंजलि देव योग दर्शन में स्वयं ही इस बात का स्पष्टीकरण अपने

शब्दों में करते हैं–

भव प्रत्ययो विदेह प्रकृतिलयानाम्।

अर्थात् विदेह एवं प्रकृति लीन योगियों को जन्म लेने मात्र से ही योग ज्ञान की प्रतीति हो जाया करती है।

इस सूत्र के अनुसार संसार में जन्म लेने वाले प्राणियों को इस योग की प्रतीति दो ही प्रकार से होती है उनमें पहले प्राणी वे हैं जो अपने जन्म–जन्मान्तर के अभ्यास से सम्प्रज्ञात: योग की वितर्क और विचारानुगत समाधि में पूर्णत: प्रविष्ट हो चुके हैं और बाद में अभी निर्बीज समाधि तक नहीं पहुँच पाये थे अभी उन्हें विवेक ख्याति नहीं हुई थी इसी अवस्था में ही उनका देहपात हो गया। ऐसे योगी दो प्रकार के होते हैं (1) विदेह (2) प्रकृति लीन।

(1) **विदेह:**–वे कहलाते हैं जो वितर्क समाधि द्वारा स्थूल महाभूतों का और उनके विशेषों का पूर्ण साक्षात्कार कर चुके हैं। इस लिये वे शरीर की असलियत को समझ करके देहाभिमान से शून्य हो गये हैं और इतनी साधना के बाद उनका शरीर छूट गया और वे संप्रज्ञात योग की आगे की सीढ़ियों तक नहीं पहुँच सके, अत: वे लोग विदेह कहलाते हैं और यह देव कोटि में माने जाते हैं।

(2) **प्रकृति लीन:**–ये योगी होते हैं जो स्थूल महाभूतों और उनके गुणों का पूर्ण साक्षात्कार करते हुये निर्विचार समापत्ति में पञ्च तन्मात्र, अहंकार और महतत्व और प्रकृति का साक्षात्कार कर चुके हैं तथा प्रकृति के इन सूक्ष्म तत्त्वों का साक्षात्कार करते हुए इन्हीं में लीन रहे हैं आगे की भूमिकाओं को तय नहीं कर पाये तथा अचानक देहपात हो गया इसलिये ये प्रकृति लीन कहलाते हैं। ये प्राणी भी देव कोटि में गिने जाते हैं इसलिए भगवान व्यासदेव जी ने इन लोगों के लिये–

विदेहानां भव प्रत्यय: तेहि स्वसंस्कार मात्रोपगेन चित्तेन पदमिवानु भवन्त: स्वसंस्कार विपाकं तथा जातीय कमीत बाहयन्ति तथा प्रकृतिलया: साधिकारे चेतसि प्रकृति लीने कैवल्य पदमिवानुभवन्ति यावन्न पुनरावर्त्ततेऽधिकार वशाच्चित्तमिति कैवल्य पदमिवानुभवन्ति।

कह कर भगवान व्यासदेव जी ने इन्हें मुक्ति पद में तो नहीं माना किन्तु मोक्ष जैसी स्थिति को ये लोग प्रकृति लीन होते हुए भी मोक्ष पद जैसा समझते हैं क्योंकि अभी इनका ग्रंथि बेध नहीं हुआ अर्थात् विवेक ख्याति को प्राप्त नहीं हुए। इसलिये इनका चित्त साधिकार है और अधिकार वश इन लोगों का संसार में जन्म होता है क्योंकि पिछले जन्म–जन्मान्तरों में इनकी योग में ऊँची प्रगति रही थी इसलिये बहुत लम्बे समय तक ये विदेह प्रकृति लीन रहते हुए

भी अपने आपको मुक्त आत्माओं की तरह अनुभव करते रहे थे। बुद्धि आल्हाद, आमोद प्रमोद आदि विशेष भावों में लीन हुये अपने आपको आनन्द मग्न मोक्ष रूप देखते रहे थे किन्तु विवेक ज्ञान के हुये बिना इनका चित्त साधिकार है इसलिये इन्हें संसार में दुबारा जन्म लेना पड़ता है।

और जन्म से ही इनकी पूर्व जन्म जन्मान्तरों में जो अभ्यास किया था उसकी प्रतीति होने लगती है और फिर उस स्थिति को पा करके जल्दी ही अपने पूर्व लक्ष्य को प्राप्त कर लेते हैं। इन लोगों की कुछ हानि नहीं हुई क्योंकि ये विदेहावस्था व प्रकृतिलीनावस्था में परमानन्द में रहे तथा जन्म लेने पर अनेक जन्मों में किया गया अभ्यास सामने आया और पुनः उसी योग समाधि में प्रवृत हो गये। इसी प्रकार प्रश्न का गीता के छठवें अध्याय में भगवान श्रीकृष्ण जी से अर्जुन ने प्रश्न किया—

अयतिः श्रद्धयापेतो योगाच्चलित मानसः। अप्राप्य योग संसिद्धि कांगतिं कृष्ण गच्छति। कच्चिन्नोभय विभ्रष्टाश्छिन्ना भ्रमिव नश्यति। अप्रतिष्ठो महावाहो विमूढ़ो ब्राह्मणः पथि, एतन्मे संशय कृष्ण—छेत्तर्महईस्य शेषतः। त्वदन्यः संशयस्यास्य छेतानह्युपपद्यते।

अर्थात् अर्जुन भगवान श्रीकृष्ण जी से प्रश्न करता है कि हे श्रीकृष्ण जो व्यक्ति श्रद्धा से युक्त है और अपने आप को काबू में नहीं रख सका है और योगाभ्यास करते—करते जिसका मन विचलित हो गया है वह योग सिद्धि को न पा करके किस गति को प्राप्त होता है? कदाचित—उभय भ्रष्ट हो करके फटे हुये बादल की तरह नष्ट भ्रष्ट तो नहीं हो जाता क्योंकि अभी उसने अपने स्वरूप में स्थिति नहीं पाई और ब्रह्म ज्ञान को नहीं पा सका। मेरे इस संशय को नाश करने वाला आपके अतिरिक्त हे श्रीकृष्ण दूसरा कोई नहीं है। इस प्रश्न का उत्तर देते हुये भगवान श्रीकृष्ण जी ने कहा—

पार्थ नेवेह्न नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते। न हि कल्याण कृत्कश्चिद्द—दुर्गितं तात गच्छति। प्राप्य पुण्य कृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीं समाः। शुचीनां श्री मतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते। अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्। एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृश्म्। तत्र तम बुद्धि सयोगं लभते पोर्वदेहिकम्। यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन। पूर्वाभ्यासेन तेनेव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः। जिज्ञासुरपि योगस्य शब्द ब्रह्माति वर्तते।

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी
संशुद्ध किल्विषः।
अनेक जन्म सं सिद्धस्ततो—
याति परां गतिम्।।

भगवान श्रीकृष्ण जी उत्तर देते हैं कि हे अर्जुन! ऐसे पुण्यात्माओं का इस लोक व परलोक में कहीं भी पतन नहीं होता। कोई भी शुभ कर्म करने वाला दुर्गति को प्राप्त नहीं हो सकता। वे लोग पवित्र पुण्यात्माओं के लोकों को प्राप्त होकर बहुत समय तक वहाँ रह कर पुनः पवित्र श्री मानों के घर में ही जन्म ग्रहण करते हैं या बुद्धिमान योगियों के घरों में ही जन्म होता है। इस मनुष्य लोक में इस प्रकार जन्म लेना भी अत्यन्त दुर्लभ है और ऐसा जन्म हो जाने के बाद उन योगियों को अपना पोर्वदेहिक बुद्धि संयोग प्राप्त होता है और उस बुद्धि संयोग को पाकर के वे लोग पुनः सिद्धि के लिये प्रयत्न करते हैं, क्योंकि पूर्व जन्म में उन्होंने इस प्रकार का अभ्यास किया तो उसी कारण से उनको इस मार्ग में लगना पड़ता है। योग–मार्ग का जिज्ञासु भी कर्म काण्ड के विषय से ऊँचा उठ जाता है और योग पूर्वक यत्न करता हुआ अपने सब पापों को धो करके अनेक जन्मों के प्रयत्न से परम गति को पा लेता है। इस प्रकार भगवान पतंजलि की आज्ञानुसार जो लोग सम्प्रज्ञात समाधि में ही किसी प्रकार विफल हो जाते हैं और निर्बीज समाधि को प्राप्त नहीं हो पाते हैं उनको जन्म से ही इस योग की प्रतीति होती है और अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेते हैं।

शुल्क समाप्ति की सूचना

सिद्धयोग मासिक पत्रिका का वार्षिक शुल्क मार्च के अंक के साथ ही समाप्त हो जाता है। इस वर्ष पत्रिका का शुल्क 200 रु. वार्षिक, 380 रु. द्विवार्षिक तथा दस वर्ष (आजीवन) का शुल्क 1000 रु. होगा। अतः मार्च में ही ग्राहकों को शुल्क जमा कर देना चाहिये। अथवा श्री राम नवमी महोत्सव के समय अवश्य ही जमा कर देना चाहिये ताकि समय पर पत्रिका भेजी जा सके।

जय गुरुदेव जी की।

प्रबन्धक

सिद्धयोग मासिक

श्री सिद्ध गुफा संवाई, एत्मादपुर, आगरा।

प्रेरक प्रसंग—

गुरु आज्ञा पालक

श्री कृष्णकुमार पाण्डेय एम. ए., गोरखपुर

गुरुदेव की प्रसन्नता इस बात में निहित है, कि शिष्य कैसे गुरुदेव के पास रह कर उनके श्री चरणों की सेवा करके अपनी सुप्त चेतना को जगाने में सफल हो सकता है। गुरुदेव अपने शिष्य को अच्छी प्रकार समझकर तथा उसको संस्कारित जानकर उसकी इच्छाओं की पूर्ति करा ही देते हैं? आज ऐसे ही प्रसंग को प्रस्तुत लेख में उद्धृत करने का विचार है।

एक बार एक साधक जिसका ईश्वर के प्रति अगाध प्रेम था, साथ ही वैराग्य की तीव्रता से जिसका हृदय निर्मल हो चुका था, एक दिन अपने सिद्ध गुरुदेव के पास बैठा था। सायंकालीन वातावरण में गुरुदेव अपने अन्य शिष्यों के साथ आश्रम के ठीक सामने बैठकर वृक्ष की शीतल छाया में बैठकर ईश्वर चर्चा सुना रहे थे। थोड़ी दूर पर एक कूप था, जिसमें किसी वृक्ष की जड़ उसके अन्दर के जल तक पहुँच गयी थी। वह साधक गुरुदेव के पास बैठकर उनके श्री चरणों में अविचल दृष्टि डाल मौन बैठा था। गुरुदेव पहले से ही इस साधक के प्रति सचेष्ट थे। आज साधक की इस भंगिमा को देखकर तथा उपयुक्त ईश्वर दर्शनाभिलाशी जानकर हृदय में कुछ प्रेम के उद्‌माग जग गये। साधक के मन से भी यह इच्छा बराबर बनी रहती थी कि गुरुदेव, मेरे इष्ट दर्शन की इच्छा को अवश्य पूर्ण करेंगे। आज शिष्य के इष्ट के प्राकट्य का दिन था। इसलिये आज इसको दर्शन कराना उपयुक्त होगा, ऐसा मन में विचार कर श्री श्री गुरुदेव साधक को बुला कर बोले—वत्स! कुऐ के पास वृक्ष की एक डाल को काट सकोगे क्या? यद्यपि वृक्ष पर चढ़ना कठिन कार्य था फिर भी साधक गुरुदेव की आज्ञा–पालन में पहले से ही बहुत सतर्क था। गुरुदेव के मुख से इस आज्ञा को सुनकर वह तुरन्त अपनी ढीली धोती को समेटते हुए तैयार हो गया। गुरुदेव बोले—अन्दर से कुल्हाड़ी ले लो, किन्तु एक बात को ध्यान में रखना कि जिस डाल को काटोगे उसकी तरफ तुम्हारी पीठ होनी चाहिए। उपस्थित समुदाय इस बात को सुनकर बड़ा विस्मित हुआ। जिस डाल को काटना था, वह डाल कुएं के बीचों बीच में कटने के बाद गिरेगी और उसकी तरफ पीठ करके काटने का अर्थ था, काटने वाला डाल के साथ ही कुएँ में गिरेगा, साधक ने उत्साह में गुरुदेव की आज्ञानुसार उसी तरफ पीठ करके काटना शुरू कर दिया। डाल के कुछ कटने के बाद

गुरुदेव उसकी परीक्षा के लिए कुछ भ्रम में पड़ने वाली बात को लक्ष्य करके बोले–जिस डाल को तुम काट रहे हो उसके बारे में क्या विचार किया है। साधक बोला–गुरुदेव की आज्ञा में विचार क्या? महाराज आपकी आज्ञा साधकों के लिए कभी भी अहितकार नहीं हो सकती। साधक गुरुदेव के चरणों में साष्टांग प्रणाम करके पुनः अपने काम में लग गया।

उपस्थित साधक समुदाय को श्री गुरुदेव वृक्ष की डाल को काट रहे साधक के बारे में बतला रहे थे। उस समुदाय में से एक साधक का चित्त गुरुदेव की उस रहस्य भरी वाणी में ही लग रहा था। वह बार–बार उस साधक के बारे में विचार करता रहा। अन्त में हाथ जोड़कर बड़े विनीत भाव से खड़ा होकर बोला–महाराज, आप उसको डाल काटने से मना कर दें, अन्यथा वह कुऐं में गिरकर अवश्य मर जायेगा। साधक गुरुदेव के सामर्थ्य को नहीं समझता था। इसलिए इस प्रकार का कौतूहल उसके मन मे घर कर गया था। गुरुदेव उसके चित्त में कौतूहल को देख एक मधुर मुस्कान डाल कर बोले–उसको कुछ नहीं होगा। तुम यहीं बैठे देखते रहो। उधर साधक गुरुदेव के आज्ञानुसार डाल को बड़े उत्साहपूर्वक काट रहा था। डाल काटने के अलावा उसके चित्त में कोई विकार नहीं था। आज वह गुरुदेव की इस आज्ञा को पाकर अपने को निहाल समझ रहा था। इन्हीं विचारों में मग्न तथा गुरुदेव के चरण–चिन्तन में लीन वह कटे हुए डाल के साथ कुएँ में गिर पड़ा। शिष्य को उस समय ऐसा प्रतीत हुआ जैसे किसी ने उसको सहारा देकर कुए में उतार दिया हो। कुऐ में डाल के साथ गिरते हुए उसको दिव्य अलौकिक प्रकाश पुंज दीखना शुरू हो गया। अपने इस अलौकिक प्रकाश–दर्शन में साधक अपने इष्ट को अखण्ड मंडलाकार प्रकाश पुंज में देखकर परम आनन्द में लीन हो गया। साधक का उस समय बाह्य ज्ञान समाप्त हो गया था। उसके अन्तर चित्त में गुरुदेव की कृपा से दिव्य प्रकाश प्रज्ज्वलित हो उठा। उसी कूप में ही वह अपने इष्टदेव में तन्मय होकर गुरुदेव व इष्ट का बारम्बार बावलों की भांति दिव्य स्त्रोतों से स्तुति करने लगा।

इधर साधक समुदाय उस डाल के गिरने की आवाज को सुनकर विस्मित तो हुए लेकिन गुरुदेव से कुछ कहने में असमर्थ रहे। गुरुदेव साधक समुदाय के अन्तःकरण की बात जानकर बोले–अरे उसको देख आओ क्या वह डाल काट चुका? शिष्य दौड़ गया, वहाँ पहुँचकर उसने देखा। साधक डाल के साथ कुएँ में गिर पड़ा है। परन्तु आश्चर्य यह था कि कुएँ का जल कहाँ चला गया? इसने तो कुएँ में गिरकर अपने शरीर का अन्त कर दिया। किन्तु साधक की इस विशेष स्थिति को न जान सका। मात्र इतना ही देखा कि कुएँ का जल

सूखा है। वहाँ से भागकर वह गुरुदेव के पास आया तथा गुरुदेव के सम्मुख हाथ जोड़कर बोला—महाराज वह कुएँ में गिरकर मर गया, लेकिन एक विचित्र बात यह है कि कुएँ में जल भी सूख गया है।

गुरुदेव ने बैठे साधक समुदाय पर एक मुस्कान फिर डाली और वहीं से बैठे ही शिष्य का नाम लेकर पुकारा। गुरुदेव की वाणी साधक को उस स्थिति में भी सुनायी दी। एक बार साधक को गुरुदेव की पुनः आज्ञा मिली। परन्तु इस बार आज्ञा का पालन ऐसी स्थिति में जाकर और वहाँ से पुनः लौटकर करना था। साधक का मन वहाँ से आने में अलसाया परन्तु गुरुदेव की आज्ञा थी। इसलिए गुरुदेव की ही कृपा से पुनः वह अपने पूर्व स्थिति में आ गया और उसके इष्ट भी वहीं से अन्तर्धान हो गये। साधक कुएँ में उठ खड़ा हुआ। गुरुदेव ने उसको कुएँ से निकालने की आज्ञा दी। साधक उस जड़ के सहारे जो कुएँ में गयी थी बाहर आकर अश्रु पूरित नेत्रों से श्री प्रभु के चरणों में आनन्द से लोट गया।

इन विभिन्न स्थितियों को मात्र उपयुक्त साधक और कृपा कारण गुरुदेव ही जान सके, अन्य साधक समुदाय नहीं समझ सका। पुनः गुरुदेव ने उस साधक के बारे में संकेत से बताया। इस प्रकार साधक ने गुरुदेव की कृपा से अपने इष्ट दर्श को प्राप्त किया।

अटल विश्वास

पार्वती जी ने महादेव जी से पूछा, भगवत्प्राप्ति का छोर (उपाय, किनारा) कहाँ है?" महादेव जी बोले, "विश्वास ही इसका ओर–छोर है। गुरु वाक्य में अचल और अटल विश्वास के बिना सच्चिदानन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती"।

—रामकृष्ण परमहंस

पत्रं-पुष्पं-फलं-तोयम्

(आरण्यक सूक्तियाँ)

मनसा वा अग्रे कीर्त यति तद वाचा वदति।
तस्मात् मन एव पूर्व रूपं वागुत्तर रूपं।।

अर्थात् मनुष्य सर्व प्रथम मन में सोचता है, फिर उसी को वाणी से बोलता है, अतः मन पूर्व रूप है और वाणी उत्तर रूप है।

स्थाणुरयं भारहारः किला भूद्।
अधीत वेदं न विजानीत योऽर्थम्।।

आरण्यक

अर्थ—जो वेदों को पढ़कर भी उनका अर्थ नहीं जानता वह भार ढोने वाला मजदूर है। और है फल—फूल विहीन केवल सूखा ठूंठ।

अन्न हि भूतानां ज्येष्ठम् तस्मात् सर्वोपध मुच्यते।
अन्नाद् भूतानि जायन्ते जातान्यन्नेन वर्धन्ते।।

प्राणी जगत में अन्न ही श्रेष्ठ है। अन्न को समस्त रोगों की औषध कहा है। (क्योंकि अन्न से ही प्राणी पैदा होते, और अन्न से ही बढ़ते हैं।)

यथा वृक्षस्य सं पुष्पितस्य दुराद् गन्धो वाति।
एवं पुण्यस्य कर्मणो दुराद् गन्धो वाति।।

अर्थ—जिस प्रकार सु पुष्पित वृक्ष की सुगन्ध दूर—दूर तक फैल जाती है। उसी प्रकार पुण्य कर्म की सुगन्ध दूर—दूर तक फैल जाती है।

योग की सिद्धि

स्वामी नित्यनिरंजन देव

योग का लक्ष्य नित्य जागृति, निज–स्वरूप–स्थिति अथवा अखण्ड स्मृति है। जागृति, स्थिति एवं स्मृति एक ही सत्य की अभिव्यक्ति के विविध नाम हैं। सिद्धि में सबको एक समान ही अनुभूति होती है, पर अपनी निष्ठा के अनुसार साधकों ने उस स्थिति को विभिन्न नामों से इंगित किया है। योगी जिसे नित्य जागृति कहता है, ज्ञानी उसे निज–स्वरूप–स्थिति एवं अखण्ड स्मृति कहता है। नित्य जागृति, निज–स्वरूप–स्थिति एवं अखण्ड स्मृति ही सिद्धि का स्वरूप है। बुद्ध से किसी ने पूछा, भगवन्! आपने इतने दिनों तक साधना की। आपने पाया क्या? बुद्ध ने कहा–मैंने केवल जागरण पाया है। जागरण–नित्य जागृति ही मेरी उपलब्धि है। इस प्रकार के प्रश्न करने पर ज्ञानी कहेगा, मैंने पाया कुछ नहीं है, अपितु 'पर' से तादात्म्य को तोड़कर अपने में स्थित हो गया हूँ। अपने सिवाय कुछ है ही नहीं, इसलिए कुछ पाने का प्रश्न ही नहीं उठता। ऐसा प्रश्न करने पर भक्त कहेगा, मैंने अन्य कुछ पाया ही नहीं है, प्रभु ही अपने हैं, अपने में ही हैं, आत्मा के रूप में भी उन्हीं की सत्ता है, वे ही हैं–इस सत्य की विस्मृति थी। अब उनकी स्मृति जाग गई है और मैं प्रभु की अखण्ड स्मृति में ही जीता हूँ, उनकी स्मृति ही मेरा जीवन है। वह कहेगा, मैंने न कुछ खोया है और न ही पाया है, अपितु जो अपना नहीं था उसे मैं अपना माने बैठा था और जो वास्तव में अपना था उसकी कोई स्मृति ही नहीं थी। अब मुझे जो अपना है, जो सदा अपना है उसकी स्मृति जग गई है।

कुछ लोग चमत्कारिक शक्तियों को ही सिद्धि मान बैठने की भूल कर बैठते हैं और इस प्रकार वास्तविक लक्ष्य से भ्रष्ट हो जाते हैं। चमत्कार हमारी साधना का लक्ष्य नहीं है और न यह सिद्धि का स्वरूप ही है। एक बार एक सूफी सन्त अबूहसन खिरकानी को रात्रि में यह दिखाई पड़ा कि कहीं दूर रेगिस्तान में कत्लेआम हुआ है और एक काफिला लूट लिया गया है। यह घटना बाद में सही निकली। उसी रात उनके अपने ही घर में उनके बेटे का कत्ल कर दिया जाता है, पर इसका आभास उन्हें रात्रि में बिल्कुल नहीं होता। जब सुबह दूसरे लोग उन्हें इसकी सूचना देते हैं, तभी वे जान पाते हैं। यह सिद्धियों का रहस्य है। इस प्रकार की चमत्कारिक सिद्धियों से सम्पन्न साधक के बारे में यह निश्चित नहीं कहा जा सकता कि वह सिद्ध महापुरुष (Relaised soul) है। सिद्धियों का हमारे लक्ष्य–सिद्धि (Realisation) से

कोई सम्बन्ध नहीं है। पर यह संभव है कि साधना के पथ में साधक को इस प्रकार की सिद्धियाँ मिल जायें। यदि इन सिद्धियों में साधक उलझ जाता है तो वह सिद्धि के वास्तविक लक्ष्य से भ्रष्ट हो सकता है। अनुभवी महापुरुषों ने हमें परामर्श दिया है कि हमें इन सिद्धियों में अटकना नहीं है, निरन्तर आगे ही बढ़ते जाना है। नित्य जागृति, निज–स्वरूप–स्थिति अथवा अखण्ड स्मृति ही हमारी मंजिल है। जो साधक चमत्कारिक सिद्धियों में उलझ जाते हैं उनके जीवन में सिद्धियों का वैभव होते हुए भी अभाव, पराधीनता और नीरसता बनी ही रहती है, जबकि हमारी मांग शांति, स्वाधीनता और रस की है।

शांति, स्वाधीनता और रस की उपलब्धि साधक को नित्य–योग से ही सम्भव है। योग एक अवस्था है अथवा स्थिति है। अवस्था परिवर्तनशील है और स्थिति से भी उत्थान होता है। इसलिए योग जब तक नित्ययोग में नहीं परिणत हो जाता तब तक शान्ति, स्वाधीनता और रस की उपलब्धि सम्भव नहीं है। अतः नित्ययोग की सिद्धि आवश्यक है। योग स्थिति अवश्य है, पर बोध प्रकाश है, निज–स्वरूप है, जीवन है। स्थिति से उत्थान तो हो सकता है, पर बोध से उत्थान नहीं होता। बोध अखण्ड है। ऐसा कोई नहीं कह सकता कि अभी तो मुझे अपना बोध है और कभी बोध नहीं रहता है। बोध नित्य है। योग बोध से पूर्व की घटना है। योग ही बोध में परिणत होता है। योग बोध में परिणत होकर ही नित्ययोग बनता है। नित्य योग में ही नित्य जागृति, निज–स्वरूप–स्थिति एवं अखण्ड स्मृति रहती है। नित्य योग सन्तों की सहज समाधि है। सहज समाधि में निद्रा की जड़ता और जाग्रत अवस्था का श्रम नहीं रहता। अपितु इसमें निद्रा का विश्राम और जाग्रत की चेतना बनी रहती है। इसे जाग्रत सुषुप्ति भी कहते हैं। एक बार काका कालेलकर ने अपने इस युग के महान् सिद्धयोगी आचार्य विनोबा भावे से पूछा—आजकल आप क्या करते हैं? बाबा ने कहा—'निद्रा में जो स्थिति रहती है वही जाग्रत में भी रहे, यह प्रयत्न चलता है।' इस अभिव्यक्ति में बाबा का यही अभिप्राय है कि सुषुप्ति में जो विश्राम है, वह जाग्रत में भी बना रहे, अर्थात् सुषुप्ति का विश्राम और जाग्रत की चेतना एक साथ बनी रहे। मानव सेवा संघ, वृन्दावन के क्रान्तिदृष्टा युग–प्रवर्तक महान् ऋषि श्री स्वामी शरणानन्द जी महाराज अपनी अन्तरंग गोष्ठियों में बार–बार इस सत्य की ओर संकेत किया करते थे। दर्शन–जगत् के सुविख्यात विचारक जे. कृष्णमूर्ति तो इसी एक सत्य की ओर सबका ध्यान ले जाने के लिए व्यथित दिखाई पड़ते हैं। महर्षि रमण भी अपने सारे जीवन में इसी सत्य की प्रेरणा देते रहे। हमारे उपनिषद् तो अनादि काल से ही इसका उद्बोधन करते आये हैं—उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।

यद्यपि यह बात स्पष्ट कर दी गई है कि बोध से उत्थान नहीं होता, वह नित्य है। फिर

भी नया साधक यह जिज्ञासा प्रकट कर सकता है कि हम अपनी साधना अखण्ड कैसे रख सकते हैं, जबकि हमें अपना काम करना ही पड़ता है, विश्राम के लिए निद्रा में जाना ही पड़ता है। इस विषय में साधक को इस तथ्य की ओर ध्यान देना चाहिए कि व्यक्ति निद्रा में जाते समय निद्रा के पूर्व के भावों को साथ लेकर जाता है। इसका अर्थ है कि यदि व्यक्ति ने किसी से झगड़ा किया है, वह क्रोध की मुद्रा में है तो यदि इसी अवस्था में वह निद्रा में चला जाता है तो रात में गहरी नींद में सोने पर भी जगने के बाद उसके सामने यह तथ्य आता ही है कि वह अपने को क्रोध की मुद्रा में पाता है, जिससे झगड़ा किया था उस व्यक्ति का चेहरा भी उसे सामने दिखाई पड़ता है।

एक दूसरे पहलू से भी देखें, एक माँ का प्यारा बेटा किसी नगर से अपने गाँव आने वाला है। माँ को बेटे के आगमन की निश्चित सूचना मिल गई है। माँ अपने प्यारे बेटे के लिए भोजन बनाती है। इस अवधि में वह बेटे के नाम की याद भी नहीं करती, उसका कोई स्मरण नहीं है। पर वह बड़ी प्रियता से भोजन बनाती है। भोजन बहुत सुन्दर और सुस्वादु बनता है। अब बतायें, भोजन बन जाने के बाद याद किसकी आयेगी? सब कहेंगे कि बेटे की याद आना स्वाभाविक है।

तो हमने देखा कि निद्रा में जाने पर और कर्म में व्यस्त होने पर भी, जगने पर और कर्म की समाप्ति होने पर उसी भाव की प्राप्ति होती है, जिस भाव को लेकर हम निद्रा में जाते हैं अथवा कर्म में व्यस्त होते हैं। एक तथ्य आपने और भी अनुभव किया होगा कि यदि आपको किसी विशेष काम से, मान लीजिये, सुबह चार बजे जगना है और आप संकल्प करके सो जाते हैं कि सुबह मुझे चार बजे जगना है, तो आप बिस्तर पर से उठकर यही पाते हैं कि आप ठीक चार बजे जग गये हैं, जबकि आप सामान्यतः काफी देर से जगा करते हैं। यह तथ्य भी यह संकेत करता है कि हमारा संकल्प केवल हमारे प्रयत्न से पूरा नहीं होता। हमारा संकल्प निद्रा में भी अर्द्धचेतन (Subconscious) और अचेतन मन के स्तर पर अपना कार्य जारी रखता है और अन्त में हमारे संकल्प की सिद्धि हमारे प्रयास के बिना भी हो जाती है। अपने जीवन के ही अनुभूत ये सत्य यह संकेत करते हैं कि हम अपनी साधना को केवल अपने प्रयत्न से ही नहीं चला सकते हैं। व्यक्ति जाग्रत अवस्था में तो प्रयास कर सकता है, पर कर्म के समय तथा निद्रा के समय वह विवशता का अनुभव करता है। पर अनुभवी संत कहते हैं, निद्रा अथवा कर्म की व्यस्तता में भाव का, संकल्प का अथवा साधना का नाश नहीं होता। भाव, संकल्प और साधना अचेतन में गतिशील बने रहते हैं। अतः यह उनका परामर्श है कि कर्म और निद्रा जाते समय हम अपने साथ अपनी साधना को भी ले जायें। उसके लिए हमें

कर्म और निद्रा में जाने से पूर्व शान्त होकर अपनी साधना में स्थित होना होगा। अपनी साधना में स्थित होकर ही हमें कर्म और निद्रा में जाना होगा। इस विधान का पालन करने से निद्रा से जगने पर और कर्म की समाप्ति पर हम स्वाभाविक रूप से अपनी साधना में होंगे। इस प्रकार हमारी साधना अखण्ड बन सकती है और हमें नित्य योग की उपलब्धि हो सकती है।

योग की सिद्धि में सजगता, समाहितता, अवतरण एवं अवस्थिति—ये चार चरण आते हैं। यदि हम अपनी वृत्तियों, विचारों एवं भावों के प्रति सजगता बनाये रखते हैं तो निश्चित ही हमारा चित्त समाहित होता है और उसे समाधान मिलता है। यह समाहितता साधना का द्वितीय चरण है। चित्त के समाहित होने पर ही दिव्य चेतना का अवतरण सम्भव है। चेतना के अवतरण को यदि हम ऊर्जा के ऊर्ध्वगमन के परिप्रेक्ष्य में देखें तो ऐसा लगता है कि ये एक ही सत्य को अभिव्यक्त करने के दो रूपक हैं। सामान्यतः योग के ग्रन्थों में ऊर्जा के ऊर्ध्वगमन की बात कही गई है। साधना से अधोगामी शक्ति का संयम होता है और वह शिव—चैतन्य से मिलने के लिए ऊर्ध्वगमन करती है। पर कुछ योगियों का कहना है कि साधना में इस प्रकार का प्रयोग करना है कि चेतना अपने चैतन्य शिखर से उतरकर जड़—शक्ति से खुद आकर मिले। यह दर्शन का सत्य है कि जड़ भी चैतन्य का ही विस्तार है, पर हमारी जड़ता के कारण वहाँ चैतन्य का कोई प्रभाव नहीं है। साधना से चेतना को परम चैतन्य के शिखर से उतारकर जड़ तक लाना है। वास्तव में अज्ञान के अन्धकार तथा भोग के तमस् में जो पदार्थ—रूप है वही योग और ज्ञान के प्रकाश में परम चैतन्य है।

चेतना के जड़—स्तर पर अवतरण से साधक की अखण्ड निज—स्वरूप में स्थिति होती है। जड़ और चेतन के विभाग से साधक अपने को भी खण्ड—खण्ड ही देखता है। पर जड़ में चेतन के अवतरण से जड़ और चेतन का भेद समाप्त हो जाता है और परम चैतन्य ही सब ओर प्रकाशित होता है। ज्ञान में जड़ और चेतन जैसा कोई विभाग ही नहीं है। परम चैतन्य का ही एकमात्र अस्तित्व है और वही अपना निज—स्वरूप है। निज—स्वरूप में परम अवस्थिति ही नित्ययोग की सिद्धि है।

योग-महामेला

श्री रामनवमी महोत्सव 2020

श्री रामलाल प्रभवे नमः

सभी प्रेमी गुरुभक्तों को सूचित करते हुये अपार हर्ष हो रहा है कि आनन्दकन्द महाप्रभु श्री रामलाल जी महाराज का 132वाँ प्राकट्य दिवस श्री सिद्ध गुफा संवाई धाम में 31 मार्च, 1 व 2 अप्रैल को बड़े धूम-धाम से मनाया जा रहा है। 2 अप्रैल को श्री रामनवमी महोत्सव है उसी दिन ब्रह्मभोज व भंडारा रहेगा। उत्सव 31 मार्च से प्रारम्भ होगा जो दो अप्रैल तक चलेगा।

सभी गुरुभाइयों से निवेदन है कि उक्त उत्सव में अपने परिवार व इष्ट मित्रों के साथ धाम में आकर पुण्य लाभ लेते हुये गुरुचरणों का सानिध्य प्राप्त करें।

जय सद्गुरुदेव जी की

सभी आश्रम वासी

गुरुभक्त-श्री सिद्ध गुफा

संवाई धाम, एत्मादपुर

आगरा।

षड्रिपुओं पर नियन्त्रण कैसे करें ?

(डॉ. जी. डी. बारचे, एम. ए., पी–एच. डी.)

सामान्य रूप से हमारे समाज में शारीरिक रोग एवं उनके कारणों की चर्चा होती है और अधिक हुआ तो मनोकायिक रोगों का विचार होता है एवं कारण–मीमांसा होती है, परन्तु यदि सूक्ष्मता से विचार किया जाये तो ध्यान में आता है कि अधिकतम रोगों का मूल कारण मनोआत्मिक ही होता है। हमारे शरीर में ही हमारे छः शत्रु (षड्रिपु)–काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह और मत्सर छिपे बैठे हैं। मानवीय शरीर तो बेचारा वाहक है, जैसे सिनेमा के परदे पर जो प्रक्षेपित किया जाता है, वही दिखता है। परदा स्वयं कुछ दिखाता या छिपाता नहीं है। ठीक उसी प्रकार शरीर एक परदे की तरह है, आत्मा या मन जो प्रक्षेपित करते हैं, वे ही विकार शरीर में रूढ़ होकर फलते–फूलते हैं। किसी भी घटना के स्रोत का विचार किया जाना ही बुद्धिमत्ता का कार्य होता है। भगवान् बुद्ध ने निम्न पंक्तियों के द्वारा यह सत्य प्रभावी ढंग से कहा है–

पथिव्या एक रज्जेन सग्गस गमनेन वा।
सब्ब लोकाधिपच्चेन सोता पत्ति फलंवर।।

अर्थात् सम्पूर्ण पृथ्वी का एकच्छत्र राज्य, स्वर्गगमन या सभी लोकों के अधिपति होने से अधिक महत्त्व एवं सुख की बात है 'स्रोत' को पाना, पहचानना या स्रोत का मिलना।

स्रोत की बात रोगों पर भी लागू होती है। साधारणतः यह देखने में आता है कि डॉक्टर एवं रुग्ण–दोनों ही रोग को भगाने में ही अधिक रुचि रखते हैं? इन्हें रोग क्यों होते हैं? रोगों का मूल स्रोत क्या है?–इन तथ्यों से कोई विशेष लेना–देना नहीं होता। जैसे कि लुई पाश्चर को पहले लगा कि रोगों के मूल कारण जन्तु हैं, अतः जन्तुओं को मारने का उपाय करो। यह बात कालान्तर में काफी रूढ़ हो गयी और आज तक 'जन्तु मारने' का उपक्रम ही रोगमुक्ति का केन्द्र बना है, परन्तु इस सत्य को नजर–अन्दाज किया जाता है कि सभी प्रकार के जन्तु सभी जगह रहते ही हैं और फिर जैसे ही पृथ्वी पर 'मनुष्य' को रहने का अधिकार है, वैसे ही 'जन्तुओं' को भी है। इसके बावजूद भी यदि हम स्रोत का विचार करें तो समझ में आता है कि जन्तुओं का जन्म 'गन्दगी में' या 'गन्दगी से' होता है। यदि गन्दगी नहीं

है तो जन्तुओं का जन्म ही नहीं होगा और यह बात लुई पाश्चर ने भी मरने के पूर्व अपने मित्र से कही कि 'My friend, it is not the germs, but soil is the cause of diseases'. अर्थात् रोगों का कारण जन्तु न होकर गन्दगी ही है।

अब जब गन्दगी की बात आती है तो पुन: समस्या खड़ी होती है–गन्दगी क्या है? और सामान्यत: लोग दृश्य भौतिक गन्दगी का ही विचार करते हैं। जैसे नालों, गटरों की गन्दगी, सड़कों के दोनों ओर एवं गलियों में गन्दगी और कचरे के ढेर, टॉयलेटों की गन्दगी इत्यादि। लोगों का ध्यान मनुष्य के पेट में न पचे हुए अन्न के सड़ने पर पड़ी हुई गन्दगी; मन में काम–क्रोध, मोह–लोभ से बनी विचारों की गन्दगी तथा प्रेम एवं करुणा के अभाव से बने कटु एवं संकुचित् भावों की गन्दगी की ओर तो कभी नहीं जाता। इसी प्रकार रोगों का विचार होता है तो केवल मलेरिया, डेंगू, स्वाईन फ्लू, हार्ट फेलीयर, कैन्सर, एड्स, मधुमेह इत्यादि रोगों का विचार होता है। काम, क्रोध, मद, मोह, मत्सर, राग, द्वेष–जैसे भयानक रोगों का बिल्कुल विचार नहीं होता। गोस्वामी तुलसीदास जी का तो सुनिश्चित मत रहा है कि शारीरिक रोग तो ठीक हो भी सकते हैं, किन्तु काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह, मत्सर–जैसे मनो–आत्मिक विकार तो जाने मुश्किल ही होते हैं। उन्होंने इस सन्दर्भ में निम्न बात कही है–

नेम धर्म आचार तप ग्यान जग्य जप दान।
भेषज पुनि कोटिन्ह नहि रोग जाहिं हरिजान।।

तुलसीदास जी कहते है कि नियम, धर्म, आचार, तप, ज्ञान, यज्ञ, जप, दान किंवा करोड़ों औषधोपचार इत्यादि करने पर भी इन रोगों से मुक्ति नहीं मिलती है। इस सन्दर्भ में भगवद् गीता में निम्न विचार व्यक्त हुआ है–

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्।।

(16/21)

काम, क्रोध, लोभ, मद, मत्सर–जैसे मानसिक रोगों को नरक का द्वार, दुःखों का मूल कारण कहा गया है और इसलिये इनसे मुक्ति मिलना आवश्यक है।

परन्तु पुन: प्रश्न यही खड़ा होता है कि इनसे मुक्ति का क्या उपाय है? क्या इन मानसिक विकारों से पूर्ण रूप से मुक्ति मिल सकती है? वैसे इन प्रश्नों का उत्तर देना भी इतना आसान नहीं है, परन्तु एक सत्य तो हम देखते ही हैं कि इस संसार में जिसका आना होता है, उसका जाना भी होता है। यह प्रकृति का अटल नियम है तथापि इन विकारों का जाना इसलिये भी कठिन हो जाता है कि इन विकारों का बीजारोपण होना व्यक्ति में बचपन से शुरू हो जाता

है। उदाहरणार्थ—छोटेपन से बच्चा देखता है कि कैसे माता–पिता झगड़ते हैं? कैसे लड़के–लड़की में भेद होता है, परिवार के सदस्य भी कैसे स्वार्थ से भरे होते हैं तथा कथित महाराज, पण्डित इत्यादि भी कैसे दम्भी एवं दोहरे चरित्र वाले होते हैं? कैसे समाज के प्रतिष्ठित लोग एवं नेता पद एवं पैसे के लिये भ्रष्ट मार्गों का अवलम्बन करते हैं? समाज में कैसे पद एवं पैसे को ही मान–सम्मान मिलता है? अतः मोह, मद, मत्सर, काम, क्रोध—जैसे विकारों को निकालना असम्भव हो जाता है और वास्तव में ये मनो–आत्मिक विकार ही अधिकांश रोगों के मूल कारण बनते हैं। कई बार देखने में आता है कि रुग्ण की सभी जाँचों में कोई बीमारी दिखायी नहीं देती, परन्तु वह बीमार तो है, उसे रोग तो है और यह तथ्य मनो–आत्मिक विकारों की ओर ही संकेत देता है।

अब मुख्य मुद्दा यह है कि यद्यपि सभी इन विकारों की निन्दा करते हैं। महाराज एवं पण्डित लोग भी अपने प्रवचनों में इन विकारों की भयंकरता के बारे में बताते हैं, परन्तु क्या वास्तव में मोह, मद, मत्सर, लोभ इत्यादि बुरे हैं? और क्या इन्हें बिलकुल निकाल फेंकना होगा? तो सत्य यह है कि इस जगत् में जो भी है, वह ईश्वरीय है। ईशावास्योपनिषद् में कहा गया है **'ईशा वास्यमिदः सर्वम्'** और शैव ग्रन्थों में यह भी कहा है कि **'न अशिवं विद्यते क्वचित्'** अर्थात् इस विश्व में अमंगलकारी कुछ भी नहीं है और यह भी सत्य है कि काम, क्रोध इत्यादि को पूर्ण रूप से जीवन से निकाल दिया जाये तो जीवन रसहीन और गतिहीन हो जायेगा। तो सत्य यह है कि इस जगत में बुरा कुछ भी नहीं है, मनुष्य किसी भी चीज को बुरा बना देता है। कोई भी चीज बुरी बनती है 'मात्रा' के कारण। उदाहरणार्थ जब तक सब्जी में नमक उचित प्रमाण में है तो नमक अच्छा है, परन्तु मात्रा से अधिक हो गया तो वही नमक बुरा हो जायेगा। वर्षा जीवनदायिनी है, पर अधिक हो गयी तो विनाशकारी भी है। वैसे ही काम, क्रोध, लोभ इत्यादि जीवन के लिये आवश्यक हैं। ये बुरे विनाशक तभी होते हैं, जब इनकी मात्रा अधिक हो जाती है और ये अधिक समय तक बने रहते हैं। हमारा एक भाई मुख्याध्यापक था, उसे कोई व्यसन नहीं था। मात्र उसे क्रोध बहुत आता था और एकबार क्रोध आया कि 4–6 दिन तक क्रोध बना रहता था। पचास वर्ष की आयु में उसे कैंसर हुआ। सभी आश्चर्य करते थे कि इन निर्व्यसनी आदमी को कैंसर क्यों, कैसे हुआ? परन्तु मेरा विश्वास रहा कि यह रोग उसे उसके क्रोधी स्वभाव के कारण ही हुआ।

अब पुनः प्रश्न उठता है कि क्या इन विकारों को मुक्त छोड़ दिया जाये? तो उत्तर होगा—नहीं। ये विकार जीवन–प्रवास के अविभाज्य अंग हैं। ये विकार रहेंगे ही। करना यह है कि ये विकार उचित मात्रा में रहें और इस कार्य के लिये चाहिये सजगता एवं ज्ञान। काम,

क्रोध, लोभ इत्यादि का आक्रमण होने पर—इनके आगमन पर व्यक्ति को सजग, सचेत होना चाहिये, इनकी निरर्थकता को समझना चाहिये। हम देखते हैं कि लोग थोड़े—से पैसों के लेन—देन को लेकर लड़ते हैं, क्रोधित होते हैं और कई बार एक—दूसरे को मार भी डालते हैं। व्यक्ति को इन विकारों के आने पर अन्धा नहीं रहना चाहिये। हम देखते हैं कि रावण, हिरण्यकशिपु, दुर्योधन इत्यादि व्यक्ति विद्वान् थे, तपस्वी थे, किन्तु काम, क्रोध, लोभ इत्यादि से मुक्त नहीं हो सके। इन्हें वे समझ नहीं सके। वे इनके वशीभूत हो गये और परिणाम रहा 'नाश'।

अतः सत्य यह है कि व्यक्ति का आहार, विहार, जीवन—पद्धति आदि कितनी भी सुनियोजित हो, किन्तु यदि वे विकार अधिक मात्रा में अधिक समय तक बने रहे तो व्यक्ति किसी—न—किसी रूप में विकारग्रस्त होकर दुःखों का, रोगों का शिकार होगा ही। अन्ततः यह कहा जा सकता है कि इन विकारों से पूर्ण मुक्ति की संभावना तो कम ही है, मात्र इन विकारों की मात्रा एवं तीव्रता कम की जा सकती है और यह करना ही अपेक्षित एवं उचित है। इन विकारों की मात्रा, तीव्रता, अवधि इत्यादि सीमा में रखने के लिये आवश्यक है—सजगता, ज्ञान, अभ्यास। किसी भी विकार के आगमन पर व्यक्ति सजग हो जाये, देखने लग जाये कि विकार का आक्रमण हो रहा है तो फिर वह विचार कमजोर हो जाता है और शीघ्र ही शान्त भी हो जाता है। लोग प्रायः विकार की ओर उसके द्वारा तबाही मचाये जाने के बाद में देखते हैं और तब पछताते हैं। महर्षि पतंजलि ने वृत्तियों के निरोध के लिये मार्ग बताया है—'**अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।**' अर्थात् अभ्यास और वैराग्य से चित्त की वृत्तियों का निरोध होता है। चित्त का स्वाभाविक बहिर्मुख प्रवाह वैराग्यद्वारा निवृत्त होता है और अभ्यास द्वारा आत्मोन्मुख आन्तरिक प्रवाह स्थिर हो जाता है और यही उपाय इन विकारों को संयमित करने में प्रभावी सिद्ध हो सकता है। 'अभ्यास' को पुनः उन्होंने स्पष्ट किया है—'**तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः।**' अर्थात् चित्त को वृत्तिरहित बनाने का उत्साहपूर्वक प्रयत्न करना ही अभ्यास है। इसके लिये जहाँ से विकार का उदय हो रहा है, उसका ज्ञान करना आवश्यक है। उदाहरणार्थ क्रोध का आगमन हो रहा है तो व्यक्ति तत्काल यह देखने लग जाये कि क्रोध ा कहाँ से जन्म ले रहा है? कैसे बढ़ रहा है? तो क्रोध की गति एवं स्थिति कमजोर हो जायेगी। विकार के उद्गम या स्रोत को देखते रहना चाहिये। दूसरा उपाय महर्षि वसिष्ठ ने बताया है—

अविचारो घनाज्ञानात् अज्ञानं दुःखकारणम्।
दीर्घसंसाररोगस्य विचारं परमौषधम्।।

अर्थात् सभी रोगों का मूलकारण 'अविचार' है, जो अज्ञान के कारण होता है और

अज्ञान ही सभी दुःखों का मूल कारण है। यदि मनुष्य 'विचार' अर्थात् सजगता से चिन्तन करता रहे कि 'वह क्या है?' 'दुःख क्या है एवं उनका उद्गम कहाँ से है?' तो फिर विकार उत्पाद कर ही नहीं पायेंगे। राम–रावण–युद्ध में राम रावण के सिर काट–काटकर थक गये। एक सिर कटने पर दूसरा नवीन सिर आ जाता था। तब राम रुके, विभीषण की ओर देखा और जब विभीषण ने बताया कि रावण की नाभि में अमृत है और जब तक अमृत नष्ट नहीं होता, वह नहीं मरेगा, तब राम ने रावण की नाभि में एक बाण मारकर वह अमृत नष्ट कर दिया और रावण धराशायी हो गया। तात्पर्य यही कि हमें विकारों के बारे में भी 'मूल' को देखना होगा? जानना होगा और ऐसा किये जाने पर ये 'षड्रिपु' अर्थात् काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर भी निरुपद्रवी हो जायेंगे और शारीरिक रोगों के निमित्त भी नहीं बनेंगे।

जीवन की परिमितता

चित्त की एकाग्रता में सहायक दूसरी बात है–जीवन की परिमितता। हमारा सब काम नपा–तुला होना चाहिए। गणित–शास्त्र का यह रहस्य हमारी सब क्रियाओं में आ जाना चाहिए। औषधि जैसे नाप–तौलकर ली जाती है, वैसे ही आहार–निद्रा भी नपी–तुली होनी चाहिए। सब जह नाप–तौल चाहिए। प्रत्येक इन्द्रिय पर पहरा बैठाना चाहिए। मैं ज्यादा तो नहीं खाता, अधिक तो नहीं सोता, जरूरत से ज्यादा तो नहीं देखता–इस प्रकार सतत् बारीकी से जाँच करते रहना चाहिए। ऐसा अभ्यास होने पर सफलता निश्चित मिल जाती है।

–आचार्य विनोबा

सुखद भविष्य की तैयारी

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसाद जी पोद्दार)

हम जिस घर में, जिस शरीर में, जिन प्राणी–पदार्थों में ममता, आसक्ति और अहंता किये हुए हैं, ये सब हमारा कुछ भी नहीं है। ये मिथ्या आरोप हैं और इनमें हमने अपने को जानकर फँसा रखा है और उस फँसावट से निकलना नहीं चाहते हैं। भगवान् कभी उस फँसावट से निकलने का अवसर देते हैं और ऐसा कोई प्रसंग बना देते हैं तो हम भगवान् से कहते हैं कि महाराज! हमें तो फँसाये ही रखो। यह शब्द चाहे न कहें, लेकिन हमारी यह चीज ज्यों–की–त्यों सुरक्षित बनी रहे, हमसे यह बिछुड़े नहीं और हमारा उससे सम्बन्ध बना रहे। हमारी यह चीज मरते दम तक रहे और मरने के बाद भी हमारा ही नाम इस पर रहे कि यह अमुक की चीज है। इस प्रकार का हमारा मोह रहता है। चीज छूटती है और छूट जाने के बाद अगर मोह रहा, ममता रही तो अगली योनियों–प्रेतयोनि, पितृयोनि, देवयोनि में भी उसकी स्मृति रहती है, ममता रहती है और दुःख रहता है, लेकिन कोई उपाय रहता नहीं है। इसलिये यहाँ का हिसाब–किताब उस राजा की भाँति कि सालभर रहना है, फिर छोड़ देना है–इस तरह रहे। जो काम मिला है, उसे ईमानदारी से करे, परन्तु कहीं अपने मन को अटकाये न रखे। कहीं फँसे नहीं। नहीं तो छूटने में कठिनता होगी। छोड़ना पड़ेगा ही। ममता के पदार्थ छोड़ने पड़ेंगे, परन्तु ममता नहीं छूटने पर दुःख नहीं छूटेगा।

यह हमारी बड़ी भूल है कि हम व्यवस्था करते हैं उन चीजों की, जो स्वयं ही अव्यवस्थित हैं और उन चीजों की, जो नाश होने वाली हैं। उनको रखना चाहते हैं व्यवस्थित और रखना चाहते हैं अमर। आज जिसका एक स्वरूप है, कल वह स्वरूप नहीं रहेगा। छोटा–सा बच्चा जब बूढ़ा हो जायेगा, तब उसे पहचान नहीं सकेंगे कि कौन है? अपनी बचपन की तस्वीर को व्यक्ति स्वयं नहीं पहचान सकता कि यह मैं ही हूँ। यहाँ की प्रत्येक वस्तु प्रतिक्षण मर रही है। इसका नाम है मृत्युलोक। यहाँ सतत् मृत्यु का प्रवाह बह रहा है। हमारी उम्र मर रही, ये कपड़े मर रहे, जमीन मर रही है। तमाम रूपान्तरण क्या बता रहा है? इस समय जो रूप है, वह क्षणभर बाद नहीं रहेगा। दूसरा रूप आ जायेगा। छोटा–सा बच्चा बड़ा हो रहा है तो हम यह नहीं देखते कि प्रतिक्षण कैसे बढ़ता जा रहा है, परन्तु रूपान्तरण तो हुआ जा रहा है। यह हम प्रत्यक्ष देख रहे हैं। यहाँ की प्रत्येक वस्तु अनित्य, अव्यवस्थित और मरणधर्मा है।

भगवान् से मिलने पर कभी विछोह नहीं होता है। वे कभी छोड़ना जानते ही नहीं हैं। उन भगवान् के साथ हम सम्बन्ध जोड़ते नहीं हैं, अपितु जुड़े हुए को भी याद करना नहीं चाहते हैं। एक भय रहता है कि कहीं वह याद आ गया तो यह छूट जायेगा। और ऐसा ही है। वह याद आ जाये, तब यह रहेगा ही नहीं। हम लोगों को जो यह संसार की स्मृति रहती है, वह तभी तक है, जब तक उनकी ओर हमारी मन की आँख नहीं हुई। नहीं तो यह रहता नहीं। इसकी तरफ से दृष्टि बदल जाती है। यह सुहाता नहीं, भाता नहीं, इसकी कोई सत्ता नहीं, इसकी कोई महिमा नहीं रहती। इसमें कोई ऐसी चीज प्रतीत होती है कि या तो दुःख दायिनी है या है नहीं।

भगवान् में जो अनुरक्त है, उसमें संसार के सम्बन्ध में दो चीज रहती हैं या तो केवल भगवान् ही भगवान् हैं और दूसरा है नहीं, यदि है तो दुःख रूप है। इसमें उसका मन कहीं फँसता नहीं, अटकता नहीं है। इसकी ओर से उपेक्षा हो जाती है। वह सोचता है कि अगर कल जाना है तो आज चला जाये। कल मिटना हो तो आज मिल जाये। इसमें क्या हर्ज है और रहे तो रहे। अपने कोई लेन–देन है नहीं। अपना लेन–देन, अपनी ममता, अपना सम्बन्ध तो एकमात्र अपने भगवान् से है। दूसरे के साथ सम्बन्ध नहीं है।

यहाँ की प्रत्येक वस्तु अनित्य, अव्यवस्थित और मरणधर्मा तथा वियोगशील है। इस प्रकार की वस्तुओं में, प्राणियों में, पदार्थों में मन को अटकाये रखना ठीक नहीं। और जो नित्य सत्य, सनातन है, जो सदा अपने हैं, जिनके मिलने पर कभी विछोह नहीं होता, जो कभी छोड़ना जानते नहीं, उन भगवान् के साथ हम अपना सम्बन्ध जोड़ते नहीं हैं। उन भगवान् के साथ अपनी एक प्रकार के सम्बन्ध की स्थापना हो जाये कि दूसरा सम्बन्ध उसके सामने रहे नहीं, याद आये नहीं। ऐसा होता क्यों नहीं? इसलिये कि उसकी महत्ता हम कहते हैं, सुनते हैं, परन्तु महत्ता हम मानते नहीं हैं। जगत् को विषमय कहते हैं, परन्तु मानते हैं अमृतमय। अगर विष मानते तो विष को कोई खाना नहीं चाहता है। इसका छूटना कठिन नहीं है। इसमें जो हमारी अमृत–बुद्धि है इसमें जो सुख बुद्धि है इसी के कारण से छूटता नहीं है। दुःख बुद्धि हो जाये तो आज छूट जाये। मरण बुद्धि हो जाय तो आज छूट जाय। इसमें जहर दीखने लगे तो आज छूट जाये। हम घरवालों को छोड़ देते हैं, यदि उन्हें अपने स्वार्थ में कोई विघातक देखते हैं। ऑपरेशन करवाकर अंग कटवा देते हैं। कहते हैं, यहाँ अब ठीक नहीं। यहाँ बहुत लुटेरे आकर बस गये और लूट लेंगे। यद्यपि घर पुराना है फिर भी छोड़ो इस घर को। नया घर बसाओ। यहाँ रहेंगे तो बड़ी बुराई होगी। लोग अपना घर छोड़ देते हैं, बाप–दादों की

जमीन छोड़ देते हैं, क्यों छोड़ देते हैं? इसलिये कि उसमें दुःख की सम्भावना हो गयी। इसलिये छूटना कठिन नहीं है।

त्याग और साधना—ये दोनों किसी नयी वस्तु की प्रबल इच्छा होने पर सहज हो जाते हैं। कोई धन का लोभी नया कारोबार शुरू करे तो मन लगता नहीं, जगह भी अच्छी नहीं, पानी भी नहीं मिलता, परन्तु वह काम करना है। तब उसमें समीचीन–बुद्धि, रस–बुद्धि हो जाती है कि यह बड़ा अच्छा है, पैसा आ रहा है। इसी प्रकार साध्य में सद्‌बुद्धि हो, साध्य में प्रिय–बुद्धि, मधुर–बुद्धि हो तो उसके अनुकूल साधनों के ग्रहण में और प्रतिकूल के परित्याग में जरा भी कठिनता नहीं होती है। अपने–आप वे सधते हैं। प्रतिकूल का परित्याग अपने–आप होता है। हम पैसा कमाना चाहते हैं तो यदि जहाँ से पैसा जाता हो, वह अपने–आप छूट जाता है, उसे नहीं करना चाहते हैं और जहाँ से आता हो, वहाँ अपने–आप मन लग जाता है। उसमें अनुकूल बुद्धि होती है और उसमें प्रतिकूल बुद्धि होती है। इसी प्रकार भगवान् हमारे परम धन हैं।

एक महात्मा ने गीता के श्लोक का अर्थ किया—

आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ।

(7/16)

उन्होंने कहा—हम इसका अन्वय करके पलटें क्यों? ऊँचा–नीचा सिद्ध करने के लिये बोले—अर्थार्थी को पहले लाओ, क्योंकि अर्थार्थी तो किसी लाभ की आशा से, अर्थ की इच्छा से भजता है। दुःख के मारे उससे रहा नहीं गया। अर्थार्थी नीचा, उससे ऊँचा आर्त, उससे ऊँचा जिज्ञासु और ज्ञानी महान् ऊँचा। उन महात्मा ने कहा—हम तो इसका सीधा अर्थ देखेंगे। अपनी–अपनी दृष्टि है। भगवान् ने क्या कहा यह तो भगवान् जानें, परन्तु हम तो अपनी दृष्टि से समझते हैं। उन्होंने कहा—अर्थार्थी का अर्थ हम जगत् के अर्थ से करें, यह ठीक नहीं है। यह तो अनर्थ है। श्रीमद्‌भागवत में आया है कि यह जो अर्थ है यह तो अनर्थ है। वस्तुतः यह अनर्थ है, किन्तु नाम इसका रख दिया है अर्थ। धन के गुलामों ने इसका नाम अर्थ रख दिया। इससे प्रत्यक्ष पन्द्रह अनर्थ पैदा होते हैं। यह भागवत के एकादश स्कन्ध में है। उन महात्मा ने कहा—हम तो जैसा है, वैसा ही अर्थ रखेंगे। **'आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ'**—भगवान् की प्राप्ति के लिये जो आर्त हो रहा है। जिसके प्राण रो रहे हों, भगवान् को पाने के लिये, वह तो आर्त है। जो दुःख को बुलाना चाहता है, वह आर्त कैसे है? वह तो मूर्ख है। वे अपने घर में आग लगाने के लिये दियासलाई माँगते हैं। जो मर जाने के लिये

जगर माँगे, गिर पड़ने के लिये गड्ढा खोदे, वे बुद्धिमान् नहीं हैं। जो अर्थ को चाहे, वह अर्थार्थी नहीं बेवकूफ़ है। अर्थार्थी कौन? जो वास्तविक अर्थ को चाहे वह। और आर्त कौन? जो उसके लिये आतुर हो। इसलिये पहले लिया आर्त को। जैसे गोपियाँ भगवान् को ढूंढ रही थीं, अन्तर्धान होने पर। वे बड़ी आतुर थीं। उनके प्राण रो रहे थे। कहीं पर वहाँ न बनावट थी, न दिखावट थी। उनके प्राणों का करुण–क्रन्दन था। भगवान् के लिये प्राण रो उठे, तब भगवान् मिल जाते हैं। किसी की आँखों में चाहे आँसू आयें, चाहे सूख जायें। दुःख के आँसू गरम होते हैं और प्रेम के आँसू शीतल होते हैं। एक आँसू–विज्ञान है। उसमें है कि जिस प्रकार के अपने अन्दर के भाव होते हैं और आँसुओं में जो भाव कारण होते हैं उन्हीं भावों का आँसुओं में भी प्रादुर्भाव होता है। वह आँसू किसी के ऐसे होते हैं, जो कष्ट पैदा करते हैं। किसी के आँसू क्रोध पैदा कर देते हैं। किसी के आँसू प्रेम पैदा कर देते हैं। किसी के आँसू दूर हटा देते हैं। क्रोध के आँसू होते हैं, काम के आँसू होते हैं, लोभ के होते हैं, निराशा के होते हैं और आशा के भी होते हैं। आँसू भिन्न–भिन्न प्रकार के होते हैं।

आर्त कौन? जिसके प्राण भगवान् के लिये क्रन्दन करते हों। जो भगवान् के लिये आर्त होकर आतुर हो रहा हो। जिससे सहन नहीं होता, वह तो आर्त है। क्यों आर्त है? इसलिये कि वह अर्थार्थी है। आर्त ही अर्थार्थी होता है। भगवान् ही एकमात्र अर्थ है, और सारे अनर्थ हैं। इस भाव से जो भगवान् को प्राप्त करने की चेष्टा करे—वह है अर्थार्थी भक्त। आर्त होकर जो भगवद्रूप अर्थ की अभिलाषा करे, जिसके प्राण रो उठें, वह अर्थार्थी भक्त है। अर्थार्थी क्या करता है? जिसे प्राप्त करना होता है, उसके लिये सबसे पूछता है। जैसे गोपियाँ भगवान् के अन्तर्धान होने पर पूछ रही थीं—तुमने देखा है हमारे श्रीकृष्ण को? अरे धरती! तेरे ऊपर तो गये ही होंगे न! तुलसी जी! तुम तो हमारे प्राणनाथ की बड़ी प्रिय हो। तुमने तो देखा होगा। ऐ मालती! तुममें तो बड़ी सुगन्ध है। कहीं श्यामसुन्दर ने तुम्हें हाथ में लिया होगा। सूँघा होगा। तुम तो जानती होगी, बताओ न! यह जिज्ञासु है। अर्थार्थी—जैसा कोई जिज्ञासु नहीं होता है। जिसके कोई अर्थ ही नहीं है, वह किस बात को पूछेगा? पूछेगा वह, पता लगायेगा वह, जिसे कुछ चाहिये। और असली चाहना किसकी? जो उसके लिये आर्त हुआ रहे। आर्त होने पर अर्थार्थी सिद्ध होता है और आर्तयुक्त अर्थार्थी जिज्ञासु होता है। जहाँ जिज्ञासा जागी, वहाँ ज्ञान होने में देर नहीं लगती है, क्योंकि भगवान् की जिज्ञासा के लिये किसी स्थान की अपेक्षा नहीं है। जहाँ जागी, जब जागी, जिसके हृदय में जागी बस, वहीं भगवान् तैयार हैं। वे कहते हैं, कोई मेरा पता तो लगाये। पूछते हुए मेरी ओर चले तो। हम खुद ढूँढ़ते हुए आ जायेंगे। जब भगवान् ने देखा कि गोपांगनाएँ व्याकुल हो गयी हैं, तब उन्हीं

के बीच में उन्हें देखने लगे—

तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः।

(श्रीमद्भगवद 10/32/2)

गोपियों ने कहा—हम तो ढूँढ़ रही थीं। भगवान् ने कहा—मैं तो यहीं था। गया कहाँ था। मैं देख रहा था कि तुम लोग क्या-क्या कर रही हो।

जिज्ञासु भक्त को भगवान् की जानकारी हो जाती है। जानकारी क्या प्राप्ति हो जाती है। यह थोड़ा अन्तर है। मैं अपनी दृष्टि से कहता हूँ। ज्ञानी भक्त और ज्ञानी में अन्तर है। ज्ञानी भक्त के लिये प्रपद्यते कहने की आवश्यकता नहीं है।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।।

(गीता 7/19)

'सबमें भगवान् हैं'—इस बुद्धि से, इस प्रकार से ज्ञानी भक्त मेरे शरण होता है, मुझे भजता है। जो चतुर्विध भक्तों की श्रेणी में नहीं है, वह भजता नहीं है। वह क्यों भजे? उसका स्वारस्य न भजने में है। इसीलिये **'मां प्रपद्यते'** यहाँ पर है। गीता में जो **'माम्'** शब्द आया है, वह भगवान् श्रीकृष्ण के लिये है। मुझ श्रीकृष्ण को सर्वत्र देख करके वह भजता है। वे महात्मा हैं और ये सुदुर्लभ महात्मा हैं। यह अन्तर है।

ज्ञानी कहता है—***'मैं हूँ मेरो आत्मा, काको करूँ प्रणाम।'*** वह तो प्रणाम ही छोड़ देगा। यह महात्माओं की वाणी है, इसका विरोध नहीं है। **'अहं ब्रह्मास्मि'** मानने वाले बहुत ऊँचे हैं। जिनका छुद्र अहं एकमात्र विशाल अहं में जाकर स्थापित हो गया और उस दृष्टि से जो कहते हैं कि 'हम ब्रह्म हैं' वे सच्ची बात कहते हैं, झूठ नहीं; परन्तु वे भगवान् को तो नहीं भजते हैं न, इस दृष्टि से दूसरी चीज है। **'मां प्रपद्यते'** में सारे कर्मों का उपसंहार हो जाता है। समर्पण और उपसंहार में बड़ा अन्तर है। समर्पण में क्रिया का अभाव नहीं है। वहाँ भजन-क्रिया, सेवा-क्रिया चलती रहती है। उनके लिये चलती रहती है और उपसंहार में कर्म रहते नहीं हैं।